समीक्षायण

*

प्रो० कन्हैयालाल 'सहल'

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली

समीक्षायण

समीक्षायण

*

लेखक—
प्रो० कन्हैयालाल सहल एम०ए०
अध्यक्ष, हिन्दी-संस्कृत-विभाग
बिड़ला कालेज, पिलानी

प्रस्तावना लेखक—
डा० नगेन्द्र एम०ए०, डी०लिट्०

*

१९५०
आत्माराम एण्ड सन्स
पुस्तक प्रकाशक तथा विक्रेता
काश्मीरी गेट - दिल्ली

प्रकाशक:—
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड सन्स
काश्मीरी गेट, दिल्ली

प्रथम संस्करण
मूल्य ३)

मुद्रक:—
यूनिवर्सिटी ट्यूटोरियल प्रेस
काश्मीरी गेट, दिल्ली

दो शब्द

श्री० कन्हैयालाल सहल हिन्दी के सुपरिचित आलोचक हैं। 'समीक्षांजलि' के बाद उनकी दूसरी आलोचना-कृति 'आलोचना के पथ पर' हिन्दी में पर्याप्त स्वीकृति प्राप्त कर चुकी है। प्रस्तुत ग्रंथ उन्हीं के स्फुट आलोचनात्मक निबन्धों का संकलन है। इनको पढ़ने के उपरांत सहलजी की समीक्षा-शैली की कुछ विशेषताएँ सर्वथा स्पष्ट हो जाती हैं। सबसे पहले तो हमारा ध्यान सहलजी की समन्वय-बुद्धि पर जाता है। इन निबंधों की परिधि अत्यंत विस्तृत है: लेखक को प्राचीन और नवीन, पाश्चात्य और पौरस्त्य सभी के प्रति श्रद्धा है। उसके मन में रवीन्द्र और गांधी के प्रति सम्भ्रम है तो मार्क्स और रिचर्ड्स भी उसके आदर के पात्र हैं। उसने सभी जगह से सार-ग्रहण करने का सत्प्रयत्न किया है। भारतीय सिद्धान्तों में निष्ठा रखते हुए भी सहलजी नवीन से नवीन सिद्धांत के प्रति जागरूक है, और सारग्राही विचारक की दृष्टि से उसे ग्रहण करने को प्रस्तुत रहते हैं। इसके लिए स्वभावतः व्यापक अध्ययन अपेक्षित है, और सहलजी में यह गुण भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। वे बहु-अधीत पंडित हैं। संस्कृत-साहित्य, काव्य-शास्त्र, हिन्दी साहित्य, हिन्दी साहित्य-शास्त्र और अंगरेजी साहित्य का उन्होंने सम्यक् अध्ययन किया है। इसके अतिरिक्त उन्हें अन्य भाषाओं के साहित्य से भी परिचय है और, कुशल अध्यापक होने के नाते, उन्होंने अपने इस विस्तृत ज्ञान का यथोचित उपयोग किया है। अध्यापकीय वृत्ति सारग्राहिता के अतिरिक्त एक और विशेषता की अपेक्षा करती है: स्वच्छ व्याख्यान-शक्ति। गृहीत सामग्री को स्वच्छता के साथ प्रस्तुत करना अध्यापक के लिये अनिवार्य्य है; अतएव अध्यापक-आलोचक की समीक्षा में व्याख्यान-गुण स्वभावतः आ जाता है। सहलजी ने काव्य की सिद्धान्त-गत अथवा व्यवहार-गत विशेषताओं को स्वच्छ और सहजग्राह्य शैली में उपस्थित किया है। उनकी भाषा स्फीत और मंजी हुई है, वह विचार के भार से दबी हुई अथवा चिंतन की जटिलता से उलझी हुई नहीं जान पड़ती। अपने उपर्युक्त गुणों के कारण सहलजी डा० श्यामसुन्दर दास और बाबू गुलाबराय प्रभृति समन्वयवादी व्याख्याता-आलोचकों के साहित्यिक वंशजों की परम्परा में आते हैं।

आयु में शायद सहलजी मुझ से बड़े ही होंगे अतएव अपने इस प्राक्कथन को मैं आशीः वचन के बिना ही समाप्त करना शोभन समझता हूँ।

नई दिल्ली

नगेन्द्र

ज्ञापन

प्रस्तुत पुस्तक के नामकरण में किसी महत्त्वाकांक्षा की प्रेरणा नहीं है। 'समीक्षायण' जैसा गुरुत्व-व्यंजक शीर्षक इस निबन्ध-संग्रह के लिए शायद ही समीचीन समझा जा सके किन्तु फिर भी इस नामकरण द्वारा छोटे-बड़े सभी प्रकार के समीक्षात्मक लेखों को इस 'अयन' में सम्मिलित कर लेने की सुविधा अनायास ही मुझे मिल गई है और सच कहा जाय तो इसी में नामकरण की सार्थकता भी है।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध समीक्षक डा० नगेन्द्र ने 'समीक्षायण' के लिए 'दो शब्द' लिख कर मुझे अत्यन्त अनुगृहीत किया है। पुस्तक के प्रकाशन में श्री भीमसेनजी ने जिस परमार्थता और तत्परता का परिचय दिया है, वह निश्चय ही अभिनन्दनीय है।

बिड़ला कालेज, पिलानी
ता० १ मई १९५०

कन्हैयालाल सहल

निबंध-सूची

समीक्षायण

१

वर्तमान हिन्दी कविता में राष्ट्रीयता

वर्तमान हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावनाओं का श्रीगणेश भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के काल से होता है। इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य यह है कि कांग्रेस के जन्म से पहले ही भारतेन्दु बाबू का स्वर्गवास संवत् १६४२ में ही हो गया था किन्तु भारतेन्दु के जीवनकाल में ही 'स्वदेश-प्रेम से भरी हुई इनकी कविताएँ चारों ओर देश के मंगल का मंत्र-सा फूँकने लगी थीं।' भारत-दुर्दशा को लेकर उन्होंने एक नाटक ही लिखा था। किन्तु भारतेन्दु की देश-भक्ति राजभक्ति को साथ लेकर चलती थी और उनकी राष्ट्रीयता भी जातीयता की ही पोषक थी। पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० श्रीधर पाठक तथा देवीप्रसाद 'पूर्ण' आदि ने भी स्वदेश-प्रेम से सम्बन्ध रखने वाली कविताएँ लिखीं। किन्तु आश्चर्य होगा आपको यह जानकर कि भारतेन्दु से भी बहुत पहले बांकीदास (सं० १८२८-१८६०) नामक एक राजस्थानी कवि ने हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की राष्ट्रीय भावना को इस प्रकार व्यक्त किया था—

> "आयो इँगरेज मुलक रै ऊपर ··· ····
> राखो रे किंहिक रजपूती, मरदां हिन्दू की मुसलमाण।"

अर्थात् अंग्रेज हमारे मुल्क पर चढ़ आया है। इसलिए हे वीर देश-वासियो, हिन्दू मुसलमान का भेद-भाव छोड़कर कुछ तो अपने शौर्य का परिचय दो।

राष्ट्रीय कवियों में बाबू मैथिलीशरण जी गुप्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सामयिक परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ-साथ गुप्त जी की राष्ट्रीय भावनाओं में भी परिवर्तन होता रहा है। राष्ट्रीयता के विचार-पक्ष की दृष्टि से दोनों गुप्त बन्धुओं पर गाँधीवाद का प्रभाव पड़ा है। सामयिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर श्री सियारामशरण गुप्त ने 'नोआखाली में' तथा 'जय हिन्द' नाम की कविताएँ लिखीं। पहली पुस्तिका नोआखाली के हत्याकाण्ड को लक्ष्य में रखकर लिखी गई। देश की दो बड़ी जातियों तथा विभिन्न संप्रदायों में

राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने के लिए होड़-सी लग गई । इसके लिए असंख्य मानव-समुदाय तक की बलि दी जाने लगी और ऐसे कुत्सित और जघन्य कर्म किए गए जिनको देखकर बर्बरता भी लज्जित हो उठे । इन घृणित कर्मों को देखकर मानवता के प्रति सामान्य जनों की आस्था हिल उठी, तो भी छलकते हुए अनुराग को लेकर वह महामानव काली तमसा के नव निशान्त की तरह अन्धकार को चीरते हुए प्रकाश की किरणें विकीर्ण कर रहा था। नोआ-खाली हत्याकाण्ड की प्रतिक्रिया स्वरूप बिहार में जो विद्रोह की आग भभक उठी, उसको लक्ष्य में रखकर कवि ने लिखा था :

बोधितीर्थ, तू द्रोहानल में, यह ईंधन मत डाल;

× × ×

तेरे बोधि-वचन अंकित हैं, जन-जन में अद्यापि
अनल-अनल से, वैर-वैर से बुझता नहीं कदापि ।

'जय हिन्द' स्वाधीनता महोत्सव के उपलक्ष में प्रकाशित कवि की छोटी-सी रचना है। 'जय जय भारत वर्ष हमारे, जय जय हिन्द हमारे हिन्द' नामक सुन्दर गीत से इस पुस्तिका का प्रारम्भ होता है। कवि को यह देखकर प्रसन्नता होती है कि भारतवर्ष ने स्वतन्त्रता के धन को सदुद्यम से प्राप्त किया है । इस युद्ध का सेनानी था वह महामानव जिसने विश्व की प्रयोगशाला में बैठकर सत्य के साथ आमरण प्रयोग किए थे; जिसका केवल लक्ष्य ही विशुद्ध नहीं था, साधन भी जिसके विशुद्ध थे। संसार में किस रण-भूमि को ऐसे सत्य-संध पुरुष की प्रतिष्ठा मिली है ? भारत दो खण्डों में विभक्त हो गया, उस सम्बन्ध में कवि आश्वासन के स्वर में कह रहा है—

'चिन्तित न हो तू अरे ओ अभंग'
खंडित कहीं से नहीं तेरा अंग ॥'

तेरे शैल-वन जहाँ के तहाँ स्थित हैं, तेरी नव नीर वाली सरिताओं में वैसे ही सुमन खिल रहे हैं, एक ही प्रकाश सारे देश में छाया हुआ है । हिन्दू वायु अथवा मुस्लिम-वायु—इस प्रकार वायु का जैसे द्विविध वर्गीकरण नहीं हो सकता, उसी प्रकार भौगोलिक दृष्टि से भारतवर्ष के दो खण्ड नहीं हो सकते—ऐसी आदर्शात्मक भावना कवि ने प्रकट की है। उसकी अन्य रचनाओं 'बापू' और 'उन्मुक्त' में भी अहिंसा और सार्वदेशीयता का ही स्वर मुखरित हुआ है। वह अपने राष्ट्र और राष्ट्र-पिता पर इसलिए गर्व करता है कि उनमें कहीं भी सीमा का संकोच नहीं है। भारत ने ही भुजा पसार कर घोषणा की थी कि विश्व भर का एक ही कुटुम्ब है—'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् ।' कवि के

हाल ही में प्रकाशित 'नकुल' नामक प्रतीकात्मक खण्ड काव्य में नकुल को सार्वभौमता के प्रतीक के रूप में ग्रहण किया गया है :

कवि के ही शब्दों में—

सार्वभौम जो, इष्ट उसे क्यों न हो नकुलता,
सीमा में अवरुद्ध रहेगा अमल-अतुल क्या ?

राष्ट्रीय कवियों में श्री माखनलाल जी चतुर्वेदी का नाम अन्यतम है। 'एक भारतीय आत्मा' के नाम को वे सर्वथा सार्थक करते हैं। राष्ट्रीयता के स्वस्थ वातावरण में ही वे साँस लेते रहे हैं। 'पुष्प की अभिलाषा' आपकी केवल सर्वप्रिय रचना ही नहीं है, उसी में आपकी कविता का मूलमंत्र भी छिपा हुआ है। बलिदान की भावना ही इनकी सर्वप्रिय भावना है। इनके 'मरण त्यौहार' की कल्पना तो बड़ी रोमांचक है। राजस्थानी साहित्य में अवश्य ही मरण-महोत्सव के भव्य चित्र देखे जाते हैं। देश और धर्म की रक्षा के लिए पुत्र का धारा-तीर्थ में स्नान करना और सती का चितारोहण राजस्थान में परम कर्तव्य समझा जाता था। 'भारतीय आत्मा' के लिए बलिशाला ही मधुशाला है। उदात्त आदर्शों की रक्षा के लिए जो कवि बलिदान की भावना को लेकर मृत्यु का जय-जयकार कर रहा हो, जो केवल स्वप्न-लोक में ही नहीं, किन्तु वास्तविक जगत में भी राष्ट्रीय पथ का सच्चा पथिक रह चुका हो, और जेलों में ही जिसके रवि उगे और अस्त हुए हों, उस कवि के काव्य की ओजस्विता और मार्मिकता का तो भला कहना ही क्या ? दिनकर ने इस कवि को शरीर से योद्धा, हृदय से प्रेमी, आत्मा से विह्वल भक्त और विचारों से क्रांतिकारी कहा है। कवि की बहुत सी पंक्तियाँ रह-रह कर याद आती हैं—

तुम बढ़ते ही चले मृदुलतर जीवन की घड़ियाँ भूले
काठ खोदने चले, सहसदल की नव पंखड़ियाँ भूले।

कवि ने अपने लिए सच ही कहा है—

सूली का पथ ही सीखा हूँ,
सुविधा सदा बचाता आया।
मैं बलि-पथ का अंगारा हूँ,
जीवन-ज्वाल जगाता आया।

राष्ट्रीय कवियों में दिनकर को भी नहीं भुलाया जा सकता जो अपने आपको युग-धर्म की हुंकार बतलाते हुए सिन्धु का गर्जन तक सुनना नहीं चाहता। कैसी ओजस्वी ललकार है इन पंक्तियों में—

सुनूँ क्या सिन्धु ! मैं गर्जन तुम्हारा
स्वयं युग-धर्म की हुँकार हूँ मैं।

× × ×

पुरोधा कवि कोई है यहाँ
देश को दे ज्वाला के तीर ?

इन पंक्तियों द्वारा प्रश्न उठाने वाला कवि मानो अपनी कृतियों द्वारा स्वयं ही उत्तर बन गया है। "भारत की भूखी नंगी जनता चाहती थी कि उसके कवि केवल सातवें आसमान की ही बात न किया करे बल्कि कुछ नीचे उतर कर दुनिया की बात भी करें, उसके भावों की अभिव्यक्ति करें" दिनकर उन दीन-दुखियों का प्रतिनिधि कवि है। वह जानता है कि भारतीय जनता के दुःखों का एक बहुत बड़ा कारण उसकी गुलामी रही है, इसलिए वह अपनी कविताओं में ऐसे अतीत को भी याद करता है जिस समय देश स्वतन्त्र था। 'मेरे नगपति मेरे विशाल' इस दृष्टि से एक बड़ी ओजस्वी रचना है। 'दिल्ली और मास्को' शीर्षक कविता में कवि ने कहा है—

जहाँ मास्को के रणधीरों के गुण गाये जाते
दिल्ली के रुधिराक्त वीर को देख लोग सकुचाते ।

उक्त पंक्तियों का ही मानो विशदीकरण करते हुए कवि ने कहा था कि 'मास्को का हम आदर करते हैं किन्तु हमारे रक्त का एक-एक बिन्दु दिल्ली के लिए अर्पित है। पराधीन देश का मनुष्य सबसे पहले अपने ही देश का नागरिक होता है।' प्रगतिशील कविताओं को लोकप्रिय बनाने में स्वयं दिनकर का बहुत कुछ हाथ रहा है किन्तु ऊपर की पक्तियों में उसने उन प्रगतिवादी कवियों को आड़े हाथों लिया है जो केवल मास्को और वोल्गा की चर्चा करते हैं किंतु सभी प्रगतिवादी कवियों के सम्बन्ध में कवि का यह आरोप लागू नहीं होता। अन्तर्राष्ट्रीयता को महत्व देने वाले प्रगतिवादी कवि अनिधार्यतः राष्ट्रीयता के विरोधी नहीं कहे जा सकते।

पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' स्वर्गीय गणेश शङ्कर विद्यार्थी के संपर्क में आने पर राष्ट्रीय आन्दोलनों की ओर उन्मुख हुए थे। 'तेरे वरद हस्त छाये हैं अब भी मेरे मस्तक पर' कहकर उन्होंने विद्यार्थीजी को स्मरण किया था। 'कुंकुम' नामक आपका कविता-संग्रह प्रकाशित होने से पहले ही आपने राष्ट्रीय कवियों में अपना नाम सुरक्षित कर लिया था। अपने उग्र विचारों के कारण आप कई बार जेल भी हो आये हैं। इनके विप्लव गायन 'कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाये' ने जितनी प्रसिद्धि प्राप्त की उतनी प्रसिद्ध इनकी और कोई कविता न हुई। बापू पर कवि ने जो अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की, उसने भी अत्यन्त ख्याति प्राप्त की। सन् १६२० के सत्याग्रह की पराजय पर कवि ने जो 'पराजय गीत' लिखा वह अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ।

आज खड्ग की धार कुंठिता,
है खाली तूणीर हुआ
विजय पताका झुकी हुई है,
लक्ष्य-भ्रष्ट यह तीर हुआ।

किन्तु नवीन वास्तव में विद्रोह और विप्लव के कवि के रूप में ही प्रसिद्ध हुए। हिन्दी कविता में क्रांति के अग्रदूत कहलाए। कवि केवल भारत में ही उथल-पुथल नहीं चाहता, वह विश्व भर में एक नयी व्यवस्था देखना चाहता है। जिस दिन वह मनुष्य को लपककर जूठे पत्ते चाटते हुए देखता है, उसके मन में इच्छा होती है कि आज मैं इस दुनिया भर को आग क्यों न लगा दूँ। इतना ही नहीं, वह यह भी सोचता है—

यह भी सोचा, क्यों न टेंटुआ घोंट स्वयं जगपति का
जिसने अपने ही स्वरूप को रूप दिया इस घृणित विकृति का

भारत के दो भागों में विभक्त होने पर हिन्दी के अनलवर्षी कवि श्रीभरत व्यास ने विप्लव के स्वर में लिखा:

आसमान ! तूने देखा दो टुकड़े होते पर न फटा तू
अरे हिमालय ! नाक कटी पर पाव इंच भी नहीं कटा तू
गंगे ! तेरी इन लहरों में आज निगोड़ी आग न लागी
काशी ! तेरे इस शंकर की आज तीसरी आँख न जागी ॥

उदयशंकर भट्ट की कविताओं में भी राष्ट्रीय भावनाओं की कमी नहीं है। सैनिक की मृत्यु-शय्या पर लिखी हुई इनकी रचना में स्वतन्त्रता के अनुराग की अच्छी व्यंजना हुई है।

गरजे बादल से आज़ादी,
बिजली में स्वर आजादी का

× × ×

हम अजादी के दीवाने,
परतन्त्र रहेंगे कभी नही।

इनके तक्षशिला नामक काव्य में भारतीय सभ्यता के स्वर्णिम अतीत की सुन्दर झलक है। सामयिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर इन्होंने 'बंगाल के अकाल' और 'रिफ्यूजी' पर भी रचनाएँ की हैं। कवि का दृष्टिकोण प्रगतिवादी भावना को लिए हुए है। राष्ट्रीय कवि की दृष्टि से श्री भट्टजी इतने प्रसिद्ध नहीं हुए जितने 'भारतीय आत्मा' और दिनकर आदि। गाँधीवादी राष्ट्रीयता को लेकर कविता लिखने वालों में श्री सोहनलाल जी द्विवेदी को नहीं भुलाया जा सकता किन्तु उनकी कविता में विचारपक्ष इतना प्रबल नहीं है जितना भावना और पूजा के आधार पर चलने वाला अपने उपास्य

देव का प्रशस्ति-पक्ष प्रबल है। शायद इसीलिए किसी ने आपको 'गाँधीवाद का चारण' तक कह दिया है। हिन्दी की कवयित्रियों में स्वर्गीय सुभद्राकुमारी चौहान ने राष्ट्रीय कविता के क्षेत्र में सर्वाधिक ख्याति प्राप्त की। उन्होंने खड़ी बोली को जो वीर-गीत दिया, उसके कारण ही वे झाँसीवाली-रानी की लेखिका के रूप में प्रसिद्ध हो गईं। दो बार राष्ट्रीय झंडा सत्याग्रह में उन्हें गिरफ्तार होना पड़ा था। निराला जी के 'जागो फिर एक बार' तथा 'जयसिंह के प्रति शिवाजी के पत्र' में हिन्दू राष्ट्रीयता अथवा जातीयता की ओजपूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। श्रीरामनरेश त्रिपाठी के खंडकाव्य मिलन, पथिक और स्वप्न में भी देश-हित और आत्मोत्सर्ग की भावना का अच्छा चित्रण है। श्री सुधीन्द्र जी की भी 'जलियाँवाला बाग' और 'फहर फहर ओ तरल तिरंगे' जैसी रचनाएँ काफी प्रसिद्ध हुईं। कानपुर के श्री श्यामलालजी पार्षद तो 'झंडा ऊँचा रहे हमारा' यह झंडा गीत लिख कर ही अमर हो गये। स्वर्गीय प्रसाद जी के नाटकों में अनेक ऐसे गीत हैं जिनका राष्ट्रीय दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है। 'अरुण वह मधुमय देश हमारा' और अलका के उस अभियान-गीत 'हिमाद्रि-तुंग श्रृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती' को कौन भूल सकता है ? श्री सुमित्रानंदन पंत की अभिनव कृति 'स्वर्ण-किरण' में भी स्थान-स्थान पर स्वस्थ राष्ट्रीय भावनाओं की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। 'ज्योति भूमि जय भारत देश' में भारत के प्रति कवि की श्रद्धा उमड़ी पड़ती है। पंत जी की राष्ट्रीय भावना में अंतराष्ट्रीयता का स्वर है। नेहरूजी के प्रति लिखी हुई कविता में उन्होंने यही अभिलाषा प्रकट की है—

> 'हो भारत-स्वातन्त्र्य विश्व-हित स्वर्ण जागरण
> रक्त-व्यथित भू पिये शांति-सुख का सजीवन।'

'बन्देमातरम्' में भी वे कहते हैं—

> आओ मुक्त कंठ से सब जन
> भूमंगल का गावें गायन।

आधुनिक युग में जो प्रबन्ध काव्य लिखे गए उनमें भी स्थान-स्थान पर राष्ट्रीय भावनाओं की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। श्री ठाकुरप्रसादसिंह 'अग्रदूत' का 'महामानव' गाँधीजी के माध्यम द्वारा दक्षिण अफ्रीका से लेकर नोआखाली तक का काव्यात्मक राष्ट्रीय इतिहास प्रस्तुत करता है। 'आर्यावर्त' में आर्य-भूमि की वंदना, आर्य जाति की महत्ता और आर्य-आचरण के प्रति निष्ठा दिखलाई पड़ती है। सच्चे राष्ट्रीय आदर्श का चित्रण 'साकेत-संत' में भी हुआ है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि निम्नलिखित अनेक रूपों में वर्तमान हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावना अभिव्यक्त हुई है (१) जन्म-भूमि के प्रति

ममता (२) देश का मस्तक ऊँचा करने वाले महापुरुषों के प्रति श्रद्धांजलि (३) देश-प्रेम और आत्मोत्सर्ग (४) स्वर्णिम अतीत का स्मरण (५) राष्ट्रध्वज की वंदना (६) वर्तमान अवस्था पर क्षोभ (७) बंगाल का अकाल (८) देश के दुखी किसानों और मजदूरों का चित्रण (९) साम्राज्यवाद का विरोध और समाजवाद का जय-जयकार (१०) जातीयता के उद्‌गार (११) राष्ट्रीय बाधाओं को चूर्ण करने की प्रेरणा आदि।

वर्षों की काल-रात्रि के बाद देश में स्वातंत्र्य प्रभात का नव-जागरण हुआ था किन्तु उसके बाद भी उन्मत्त भावनाओं का जो अनियंत्रित-तांडव-नृत्य देखा गया, उसके कारण मानवता चीत्कार कर उठी—वह अपने उस वसुन्धरा के लाल को खो बैठी जो मानवता का उपासक था, जो केवल भारत का ही हितैषी नहीं था वरन् अहिंसा और सत्य के द्वारा जो विश्व-हित की निरंतर कामना किया करता था। ऐसी विषम परिस्थिति में राष्ट्रीय कवियों का दायित्व बहुत अधिक बढ़ जाता है। इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य के जीवन में भावावेश एक बड़ी भारी प्रेरक शक्ति है किन्तु वह भावावेश आज कर्तव्य का भावावेश होना चाहिए, भावना का उन्माद नहीं। आज कोई भी राष्ट्र अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति से अपने को पृथक् नहीं रख सकता इसलिए वांछनीय यह है कि हमारे कविगण भी परिस्थिति का सम्यक् अध्ययन करें, केवल राजनीतिक नारे उठाने वाली कविताओं से बाज आयें और जीवन में साधना के महत्व को समझें। राष्ट्रचेता कवि के काव्यों से देशवासियों को अवश्य ही प्रेरणा मिलती है, किन्तु आज के कवि को यह भी देखना होगा कि किस प्रकार की प्रेरणा वह अपने काव्यों द्वारा दे रहा है। केवल विद्रोह की भावनाओं से प्रेरित होकर काव्य-रचना करने से आज काम नहीं चलेगा; सांप्रदायिक एवं जातीय भावनाओं से ऊपर उठ कर हमें राष्ट्रीयता की भावना को अपनाना होगा। उत्तेजना में आकर राजनीतिक वाद-विवाद करने का अवसर आज नहीं है; छिछले निरे भावुकता-मय उद्‌गार आज नहीं चल सकेंगे। यह हर्ष की बात है कि पन्त जैसे चिन्तन-शील कवि स्वस्थ विचार-धारा जनता के सामने रख रहे हैं, जिसमें सांस्कृतिक जागरण का स्वर सुनाई पड़ता है। सियारामशरण जी की मानवतामूलक राष्ट्रीयता का भी कम महत्व नहीं है। हिन्दी के कवियों में कभी-कभी राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता में विरोध के स्वर भी सुनाई दे जाते हैं किन्तु सच्ची राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग में कभी बाधा नहीं डाल सकेगी। यह विश्व का दुर्भाग्य है कि साम्राज्यवादी भावना से प्रेरित राष्ट्र सच्ची राष्ट्रीयता को नहीं अपना रहे हैं। एक पक्ष के विचारानुसार जहां तक राजनीतिक भावनाओं की व्यापकता का सवाल है, राष्ट्रीयता ने मनुष्य को एक ऊँचे दर्जे की चेतना देकर

अच्छा ही काम किया है और अब भी कर सकती है किन्तु मानवता और राष्ट्रीयता में झगड़ा ही रहा है और यह झगड़ा तभी दूर हो सकेगा जब मानवी राष्ट्रीयता का विकास समुचित आर्थिक संगठन को लेकर होगा। प्रगतिवादी राष्ट्रीय कवियों का समुदाय इसी राष्ट्रीय भावना को जगाने का काम कर रहा है। आज के कवि का काम यह है कि वह ऐसी भावना जगाये जिससे हम एक दूसरे को समझें और सांप्रदायिक दलदल से ऊपर उठें। विशुद्ध राष्ट्रीयता के आलोक की जितनी आवश्यकता आज है, उतनी पहले कभी नहीं थी। क्या हिन्दी के राष्ट्रीय कवि इस ओर ध्यान देंगे ?*

---

*आल इण्डिया रेडियो, दिल्ली के सौजन्य से।

२

प्राचीन तथा अर्वाचीन नाटकों की प्रवृत्तियां

पाणिनि ने अपने व्याकरण में शिलालिन् और कृशाश्व नामक नाट्य-शास्त्र के लेखकों का उल्लेख किया है। इन्होंने सूत्ररूप में नाटक-संबन्धी विवेचन किया होगा किन्तु इनके ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। सबसे पहला ग्रन्थ मिलता है नाट्य-शास्त्र जिसके रचयिता भरत थे। इसका निर्माण-काल जैकोबी के मतानुसार ईसा की तीसरी शताब्दी है। उसका कहना है कि नाट्य-शास्त्र में प्राकृतों का उल्लेख है और अर्धमागधी प्राकृत का भी नाम आया है। अश्वघोष और भास के नाटकों में ये प्राकृतें नहीं मिलतीं और नाट्य-शास्त्र के विधिनिषेधों का भी पालन कठोरतापूर्वक नहीं किया गया। इससे अनुमान होता है कि नाट्य-शास्त्र की रचना अश्वघोष के बाद हुई होगी। नाट्य-शास्त्र में रंगमंच, अभिनेता, उनके वस्त्राभरण, संगीत, नृत्य, आंगिक अभिनय, वाचिक अभिनय आदि का विस्तृत विवेचन हुआ है। काव्य का स्वरूप, काव्य के भेद, रस और भाव की मीमांसा भी की गई है। नाटकों के अनेक भेदोपभेद की परिगणना भी प्राप्त होती है।

भरत के पश्चात धनंजय का दशरूपक मिलता है जिसमें प्रायः वे ही विषय हैं जो नाट्य-शास्त्र में हैं। किन्तु नाट्य-शास्त्र की भांति इसमें सब विषयों का ग्रहण नहीं हुआ है और न इसमें इतना विस्तार ही पाया जाता है। नाटक के चार उपकरण वस्तु, चरित्र, रस और संवाद इस ग्रन्थ में विवेचित हुए हैं। धनंजय के पश्चात् विद्यानाथ का प्रतापरुद्रयशो भूषण और विद्याधर की एकावली नामक रचनाएँ नाटकों का विवेचन करती हैं। इस विषय का सबसे अंतिम लेखक विश्वनाथ कविराज है जिसने अपने साहित्य-दर्पण में नाटकीय सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। इसका छठा अध्याय इसी विषय से संबद्ध है। यह भी भरत के नाट्य-शास्त्र की ही बातों को लेकर लिखा गया है यद्यपि इसमें स्पष्टता नाट्य-शास्त्र की अपेक्षा अधिक है।

नाट्य-शास्त्र में नाटक को अनुकृतिमूलक काव्य माना है। इसमें व्यक्तियों के कार्यों, उनकी स्थितियों और मनोभावों का अनुकरण किया जाता है। अनुकरण का आधार इंगित, वाणी, वेशभूषा और वस्त्र हैं। किन्तु केवल अनुकृति ही पर्याप्त नहीं है। अनुकृति का लक्ष्य है दर्शक के हृदय में सुख और

दुःख की भावनाओं को उत्तेजित करना। सारांश यह कि रस की निष्पत्ति ही भारतीय नाटक का प्रधान उद्देश्य है। कुछ लोग जीवन की अनुकृति का अर्थ जीवन की यथार्थता से लेते हैं किन्तु जीवन की यथार्थ अनुकृति कला में सम्भव ही नहीं। कला की प्रभावकता के लिए यह आवश्यक है कि जीवन के चुने हुए तत्व लिये जायं। जीवन की अनुकृति का व्यापक अर्थ यही है कि जो वस्तु काव्य में गृहीत होगी, वह जीवन के बाहर की नहीं होगी। हां, यह ठीक है कि नाटकीय अनुकृति में जीवन की वास्तविकता और यथार्थता का आभास अवश्य होना चाहिये।

जीवन के विकास के साथ मनुष्य आज बुद्धिजीवी होता जा रहा है और वर्तमान रंगमंच पर वास्तविक जीवन का ही चित्र देखना चाहता है। आज बहुत अधिक भावत्मकता, नैतिकता या कविता का सहारा नहीं लिया जा सकता। गीतों को भी अस्वाभाविक ठहरा कर आज नाटक से उनका बहिष्कार किया जा रहा है। समस्या को सुलझाने की तरफ भी आधुनिक नाटक का आग्रह अधिक है जिसके मूल में भी यथार्थवादिनी मनोवृत्ति काम कर रही है। समस्या को समझने में भावुक होने से काम नहीं चला करता।

प्राचीन समय में नाटक का लक्ष्य था शिक्षा देना तथा किसी आदर्श को उपस्थित करना; उसी के अनुरूप नियम भी बने थे। धीरोदात्त आदि नायकों का नियमन ऐसा ही है। नियमों की पाबन्दी में चरित्र का स्वतन्त्र निर्माण संभव नहीं हुआ करता। प्राचीन नाटकों में नियमों का आधिक्य साधक न हो कर बाधक ही सिद्ध हुआ। संस्कृत में नियमों की पाबन्दी अधिक रही। अरस्तू ने भी नियम तो रखे हैं किन्तु उसके नियमों में पूरी उदारता है। आगे चल कर रोम में होरेस ने नाटक को एकदम नियमबद्ध कर दिया और नियमों के अनुसार घड़े हुए नाटकीय पात्र पुतले मात्र रह गये। कालिदास प्रभृति नाट्यकारों ने तो पूरा-पूरा नियमों का पालन नहीं किया पर पिछले खेवे के नाटककारों में शास्त्रीय पद्धति का ही अनुसरण है। हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध नाट्यकार स्व० जयशंकर प्रसादजी के नाटकों में शास्त्रीय नियमोपनियमों का बराबर उल्लंघन हुआ है। यद्यपि प्रो० जगन्नाथप्रसाद जी शर्मा ने प्रसादजी के नाटकों का शास्त्रीय विवेचन किया है किन्तु वास्तव में प्रसाद जी के नाटक शास्त्रीय उतने हैं नहीं।

प्रसादजी की कहानियों और नाटकों में बहिर्द्वन्द्व की अपेक्षा अंतर्द्वन्द्व की ही प्रधानता है। आधुनिक नाटकों में अंतर्द्वन्द्व को विशेष महत्व दिया जाता है जिसमें व्यक्ति के अन्तश्चेतन में होने वाले द्वन्द्वों का चित्रण होता है। द्वन्द्व केवल भलाई और बुराई में ही नहीं होता; भलाई-भलाई में भी होता है। ऐसे

अनेक अवसर आ जाते हैं जब कर्तव्य और प्रेम में द्वन्द्व उपस्थित हो जाता है अथवा पारिवारिक स्वार्थ और राष्ट्रीय स्वार्थों में संघर्ष उठ खड़ा होता है। आज का नाटक हत्या या खूनखराबी को महत्व नहीं देता; आन्तरिक जीवन के असामंजस्यों का दिग्दर्शन आज प्रधान हो गया है। आज के नाटक में भाषण की शैली और कृत्रिमता का भी बहिष्कार हो रहा है। जीवन के अनुरूप साहित्य का स्वरूप भी बदलता रहता है। पूर्वकालीन शास्त्रीय रूढ़ियां टूटती गई तथा नाटक में अधिकाधिक व्यापक जीवन की प्रधानता होती गई। पहले के नाटकों में सामान्य जीवन का चित्रण असंभव-प्राय था। नियमों में एक प्रकार से जीवन को सीमित कर दिया गया था किन्तु जीवन की असीम व्यापकता क्या कभी नियमों के घेरे में आबद्ध हो सकती है? फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के साथ पुराने नियम तिरस्कृत समझे जाने लगे। नवीन स्वतंत्र साहित्य में नीति का अपना अलग स्थान नहीं रहा। प्रत्यक्षतः शिक्षा देना शुद्ध साहित्य का लक्ष्य नहीं होता, उसका लक्ष्य तो आनन्द प्रदान करना है; किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि नया साहित्य अनैतिक है। गेटे के विचारानुसार महान कलाकार की रचना का प्रभाव अवश्य ही नैतिक पड़ेगा, वह चाहे जो कुछ लिखे।

आधुनिक युग में नाटक की प्रगति आदर्शवाद को छोड़ कर यथार्थवाद की तरफ बढ़ती चली जा रही है। आरंभिक नाटक मनोरंजन का साधन था। पाश्चात्य प्रारंभिक नाटक एक प्रकार की कृत्रिमता लिये हुए था, कविता के निकट पहुँचा हुआ था जबकि रंगमंच अविकसित था। आज नाटक के दृश्य को हम प्रदर्शन मात्र न समझ कर वास्तविक जीवन का चित्र समझते हैं। आज का नाटक जीवन का यथार्थ चित्रमात्र है, उसमें किसी प्रकार की अस्वाभाविकता के लिए कोई स्थान नहीं। हां, यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि भारतीय नाटक का अभिनयात्मक विकास इतना नहीं हो पाया जितना पश्चात्य देशों में हुआ है क्योंकि हिन्दू सभ्यता बहुत काल तक स्वतंत्र नहीं रह सकी।

३

'ध्रुवस्वामिनी' का ऐतिहासिक आधार

सन् १६२३ के 'जर्नल एशियाटिक' में फ्रेंच विद्वान् सिलवाँ लेवी ने 'नाट्य-दर्पण' की हस्त-लिखित प्रति में से 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नामक नाटक के कुछ उद्धरण प्रकाशित करवाये थे। इससे यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि समुद्रगुप्त के बाद रामगुप्त नाम का कोई राजा गुप्तवंश के सिंहासन पर बैठा था या नहीं? यद्यपि 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के प्राप्य उद्धरणों से स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त के बाद रामगुप्त नाम का राजा कुछ समय के लिए गुप्तवंश के सिंहासन पर बैठा था, तथापि सिलवाँ लेवी ने उक्त नाटक के आधार पर गुप्त-वंशावली स्थिर नहीं की। सन् १६२४ में स्मिथ की 'अर्ली हिस्ट्री आफ़ इण्डिया' का चौथा संस्करण संशोधनों-सहित प्रकाशित हुआ; किन्तु इसमें भी उक्त नाटक के इतिहास-सम्बन्धी महत्त्व को स्वीकार नहीं किया गया।† स्मिथ ने समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय के बीच रामगुप्त नामक किसी शासक की सत्ता को मानने से इन्कार कर दिया। 'देवी-चन्द्रगुप्तम्' के इतिवृत्त को उक्त इतिहासकार ने पारम्परिक अनुश्रुति से अधिक महत्व नहीं दिया और यह स्थिर किया कि 'यह कहानी प्रकृत इतिहास जैसी नहीं जान पड़ती।'*

नवम्बर १६२४ में इस प्रश्न पर फिर चर्चा प्रारम्भ हुई। मणीन्द्रचंद्र नंदी व्याख्यान माला में श्री आर. डी. बनर्जी ने सबसे पहले यह प्रकट किया कि समुद्रगुप्त के बाद रामगुप्त नामक राजा गुप्तवंश के सिंहासन पर बैठा, जो इतना निर्बल था कि उसने अपने राज्य और प्राणों की रक्षा के उद्देश्य से अपनी पत्नी ध्रुवदेवी को मथुरा के शकराज के पास भेजना स्वीकार कर लिया, किन्तु उसके छोटे भाई चन्द्रगुप्त को यह बात पसन्द नहीं आई। स्त्री का वेश बनाकर वह शक-शिविर में गया और वहाँ पर उसने शकराज का वध कर डाला। अन्त में उसने अपने भाई रामगुप्त की भी हत्या कर डाली और उसकी स्त्री ध्रुवदेवी से विवाह कर लिया।

दुर्भाग्यवश 'देवीचन्द्रगुप्तम्' सम्पूर्ण रूप में आज उपलब्ध नहीं, उसके कुछ अंश ही मिलते हैं। 'नाट्यदर्पण' से स्पष्ट है कि 'देवीचन्द्रगुप्तम्' का रच-

---

† V. Smith's Early History of India, 4th edition P. 309.

*The tale does not look like genuine story.

यिता विशाखदत्त था और यह बहुत संभव है कि विशाखदत्त वही हो जिसने संस्कृत के सुप्रसिद्ध 'मुद्राराक्षस' नामक ऐतिहासिक नाटक की सृष्टि की थी। कुछ विद्वानों के मतानुसार तो विशाखादत्त चन्द्रगुप्त द्वितीय का समकालीन था; उस हालत में 'देवीचन्द्रगुप्तम्' में वर्णित घटनाएँ नाट्यकार के लिए करीब-करीब आँखों देखी हुई घटनाओं के समान ही रही होंगी। 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के निम्न-लिखित श्लोक को लीजिये—

रम्यां चारतिकारिणीं च करुणाशोकेन नीता दशाम्।
तत्कालोपगतेन राहुशिरसा गुप्तेव चान्द्री कला॥
पत्युः क्लीवजनोचितेन चरितेनानेन पुंसः सतः।
लज्जाकोपविषादभीत्यरतिभिः क्षेत्रीकृता ताम्यते॥

ध्रुवदेवी को देखकर चन्द्रगुप्त कहता है—यह गुप्तवंश की वह देवी है जो पहले रम्य होते हुए भी अब 'अरतिकारिणी' दशा को प्राप्त हो गई है—ऐसा जान पड़ता है मानो चन्द्रमा की कला को राहु ने ग्रस लिया हो। इसका पति यद्यपि मर्द है, किन्तु फिर भी उसका आचरण-नामर्द का-सा है, इसलिए ध्रुवदेवी लज्जा, कोप, विषाद, भय और अरति की पात्र बनकर अपने अंतः-करण मे उद्विग्न हो रही है।

इस श्लोक पर अपनी टिप्पणी देते हुए प्रसाद जी ने लिखा है—"भारतीय दृष्टिकोण को सुरक्षित रखने वाले विशाखदत्त जैसे पण्डित ने जब अपने नाटक में लिखा है—'रम्यां......ताम्यते' तो उस नाटक के संपूर्ण सामने न रहने पर भी, जिससे कि उसके परिणाम का निश्चित पता लगे, उस काल की सामाजिक व्यवस्था का तो अंशतः स्पष्टीकरण हो ही जाता है। नारद और पाराशर के वचनः—

'अपत्यार्थं स्त्रियः सृष्टाः स्त्री क्षेत्रं बीजिनो नराः
क्षेत्रं बीजवते देयं नाबीजी क्षेत्रमर्हति। (नारद)*
'नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते।' (पराशर)†

के प्रकाश में जब देवी चन्द्रगुप्त नाटक के ऊपर वाले श्लोक का अर्थ किया जाय तो वह घटना अधिक स्पष्ट हो जाती है। 'रम्या है किन्तु अ-रतिकारिणी है' में जो श्लेष है, उसमें शास्त्र व्यवस्थाजनित ध्वनि है और पति के क्लीवजनोचित

*सतान के लिए स्त्रियों की सृष्टि हुई है, स्त्री क्षेत्र है और पुरुष बीज-सम्पन्न हैं। बीज-सम्पन्न (पुरुष) को ही क्षेत्र (स्त्री) दिया जाना चाहिए, बीज हीन (क्लीव) को क्षेत्र (स्त्री) नहीं मिलना चाहिए। (नारद)

†पति के नष्ट होने, मरने, सन्यास लेने, क्लीव होने तथा पतित होने—इन पाँच आपत्तियों में, स्त्रियों के लिए दूसरे पति का विधान है। (पराशर)

चरित का उल्लेख, साथ ही साथ स्त्रीकृता जैसा पारिभाषिक शब्द, नाटककार ने कुछ सोच कर ही लिखा होगा।" 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के अतिरिक्त परवर्ती अन्यकृतियों में भी इस घटना का उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ—

(१) 'गिरिपुरे च परकलत्रकामुकं कामिनीवेषगुप्तो गुप्तश्चन्द्रगुप्तः शकपतिमशातयत्।"
(हर्षचरित)

अर्थात् स्त्रीवेषधारी गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त ने परस्त्रीकामुक शकपति को गिरिपुर में मार डाला।

(२) "शकानामाचार्यः शकाधिपतिः चन्द्रगुप्तभ्रातृजायां ध्रुवदेवीं प्रार्थयमानः चन्द्रगुप्तेन ध्रुवदेवीवेषधारिणा स्त्रीवेषजनपरिवृतेन व्यापादितः।" (टीकाकार शंकराचार्य)

टीकाकार की व्याख्या से यह भी जान पड़ता है कि चन्द्रगुप्त के साथ स्त्रीवेशधारी अन्य सामन्त भी गये थे।

(३) दत्वा रुद्धगतिः खसाधिपतये देवीं ध्रुवस्वामिनीम्। यस्मात् खण्डितसाहसो निववृते श्रीशर्म (सेन) गुप्तो नृपः * तस्मिन्नेव हिमालये गुरुगुहाकोणात्क्वणत्किन्नरे गीयन्ते तव कार्तिकेय नगरस्त्रीणां गणैः कीर्तयः॥ (राजशेखर)

११वीं शताब्दि में राजशेखर ने लिखा है कि चारों ओर से गति रुद्ध हो जाने के कारण हिम्मत हारकर रामगुप्त ने खसाधिपति के पास ध्रुवदेवी भेजने की शर्त स्वीकार की। ऐसा जान पड़ता है कि उक्त श्लोक चन्द्रगुप्त को संबोधित करके लिखा गया है जैसा कि तीसरी और चौथी पंक्तियों के निम्नलिखित अर्थ से स्पष्ट है—

हे कार्तिकेय (कुमार चन्द्रगुप्त)! उसी हिमालय की गुफा में जहाँ किन्नर राग अलाप रहे हैं, नागरिक स्त्रियों की मंडली द्वारा तुम्हारे यश का गान हो रहा है। संभव है चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक की विजयघोषणा का उल्लेख उक्त पंक्तियों में हुआ हो।

(४) ८वीं शताब्दी के संजान ताम्रपत्र में निम्नलिखित श्लोक का उल्लेख है—

हत्वा भ्रातरमेव राज्यमहरद्देवीं च दीनस्तथा।
लक्षं कोटिमलेखयन्किल कलौ दाता स गुप्तान्वयः।
येनात्याजि तनुः स्वराज्यमसकृद् बाह्यार्थकैः का कथा।
ह्रीस्तस्योन्नतिराष्ट्रकूटतिलको दातेति कीर्त्यामपि॥

कलियुग में एक गुप्तवंशी राजा ने अपने भाई को मारकर उसका राज्य छीन लिया था। फिर उसने 'अमुक को एक लाख दिये, अमुक को एक करोड़ दिये' इस प्रकार के अपने दान-विषयक लेख लिखवाये, किन्तु अपने प्राणों की परवाह न करके भी जिसने अपना राज्य अनेक बार दान में दे दिया उसके सामने तुच्छ बाहरी द्रव्यों की तो चर्चा ही क्या? वह (प्रथम अमोघवर्ष)

*पाठान्तर "श्रीरामगुप्तोनृपः'

'राष्ट्रकूटतिलक दाता' इस प्रकार की उपाधियों से लज्जा का अनुभव करता था।

इस श्लोक में गुप्तवंशी राजा की अपेक्षा राष्ट्रकूट राजा के औदार्य और दानातिरेक की चर्चा की गई है।

(४) स्त्रीवेषनिन्हुतश्चन्द्रगुप्तः शत्रोः स्कन्धावारं
गिरिपुरं शकपतिवधायागमत्। (श्रृंगारप्रकाश)

अर्थात् स्त्री-वेश में प्रच्छन्न रूप से चन्द्रगुप्त शकपति को मारने के लिए शत्रु के स्कन्धावार गिरिपुर में गया।

ऊपर जो उद्धरण दिये गये हैं उनके आधार पर कहा जा सकता है कि समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय के बीच में एक रामगुप्त नाम का राजा भी राज्य कर चुका है। किन्तु इस पर कुछ विद्वानों ने आपत्तियाँ भी उठाई हैं, जिन पर विचार कर लेना यहाँ आवश्यक है—

(१) एक मुख्य आपत्ति तो यह उठाई गई है कि राजगुप्त के राज्य का कोई शिलालेख नहीं मिलता; किन्तु किसी के नाम का शिलालेख यदि न मिले तो उससे यह सिद्ध नहीं हो जाता कि उस नाम के किसी राजा ने राज्य ही नहीं किया। इतिहास में ऐसे अन्य उदाहरण मिलते हैं, जिसमें किसी के नाम का शिलालेख न मिलने पर भी उस नाम का राजा राज्य कर चुका है।*

(२) दूसरी आपत्ति यह हो सकती है कि चन्द्रगुप्त ने अपने बड़े भाई की विधवा स्त्री से विवाह कर लिया। यह उस समय की सामाजिक प्रथाओं को देखते हुए कैसे माना जा सकता है? किन्तु इस आपति में भी कोई सार नहीं जान पड़ता; वैशाली में ध्रुवदेवी के नाम की मोहरें मिली हैं जिनमें उसे महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त की महारानी कहा गया है और 'देवीचन्द्रगुप्तम्' से यह स्पष्ट है कि वह चन्द्रगुप्त के बड़े भाई राजगुप्त की पत्नी भी थीं। प्रसादजी ने 'ध्रुवस्वामिनी' की भूमिका में नाटक के इस सामाजिक पक्ष पर विस्तार से विचार किया है।

(३) तीसरी बड़ी आपत्ति यह उठाई गई है कि यह शकराज कौन था, जिसने राजगुप्त के सामने इस तरह की शर्त रखी? क्या समुद्रगुप्त के किसी वंशज से इस तरह की अपमानजनक शर्त रखने की हिम्मत किसी शकराजा को हो सकती थी? श्री अल्टेकर के मतानुसार शकराज पश्चिमी क्षत्रप वंश का कोई शासक था। संभवतः यह रुद्रसेन द्वितीय था, जिसके सिक्कों पर की तिथियाँ सन् ३४८ से ३७८ ई. तक मिलती हैं। श्रीबनर्जी के मतानुसार यह शकराज मथुरा का शासक था, किन्तु यह मत भ्रामक जान पड़ता है। बाणभट्ट और राजा भोज दोनों ने 'गिरिपुर' का उल्लेख किया है, जहाँ शकराज की

*विस्तृत विवेचन के लिए देखिये J. B. O. R. S. vol. XIV PT. II में श्री A. S. Altekar का लेख।

हत्या हुई थी। इसलिये यह शकराज 'गिरिपुर' अर्थात् सौराष्ट्र का अधिपति रहा होगा। चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में वहाँ पर महाक्षत्रप तृतीय रुद्रसिंह राज्य करता था। यह क्षत्रप शाखा का अन्तिम शासक था। इस तर्क-परम्परा का यदि हम आश्रय लें तो 'देवीचन्द्रगुप्तम्' में जिस शकराज का निर्देश किया गया है, वह उक्त रुद्रसिंह ही ठहरता है।*

(४) एक अन्य आपत्ति पर भी यहाँ विचार कर लेना आवश्यक है। डा० फ्लीट ने जो गुप्त लेखों का संग्रह प्रकाशित करवाया है, उसमें चौथे तथा १३ वें लेख की राजावलि में समुद्रगुप्त के पीछे द्वितीय चन्द्रगुप्त का नाम आता है, और विशेषण स्वरूप 'तत्परिगृहीत' समासांत पद का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ है 'समुद्रगुप्त द्वारा पसन्द किया हुआ।' किन्तु इसका तो केवल यही अर्थ समझना चाहिए कि समुद्रगुप्त को चन्द्रगुप्त अन्य पुत्रों से अधिक प्रिय था। इतिहास के अन्य विद्वानों का मत चाहे जो हो, प्रसादजी की तो धारणा थी कि समुद्रगुप्त ने चन्द्रगुप्त को ही राजसिंहसन पर बिठलाने का निश्चय किया था, जैसा कि 'ध्रुवस्वामिनी' के नीचे के उद्धरण से स्पष्ट है—

"चन्द्रगुप्त—कुटिलता की प्रतिमूर्ति, बोलो! मेरी वाग्दत्ता पत्नी और पिता द्वारा दिये हुए मेरे सिंहासन का अपहरण किसके संकेत से हुआ? और छल से।" (ध्रुवस्वामिनी पृ. ८०)

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त के बाद रामगुप्त नाम का राजा कुछ समय तक शासक रहा। इस कथानक को लेकर हिन्दी में स्व. प्रसादजी ने अपने सुप्रसिद्ध नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' की रचना की, श्री के० एम० मुन्शी ने गुजराती में 'ध्रुवस्वामिनी देवी' नामक नाटक लिखा, जिसका अब हिन्दी में भी अनुवाद हो चुका है, तथा स्व० श्री राखालदास बनर्जी ने बंगला में 'ध्रुवा' नामक ऐतिहासिक उपन्यास की सृष्टि की। श्री गुरुभक्तसिंह का 'विक्रमादित्य' काव्य भी इस संबन्ध में प्रकाशित हो चुका है।

---

*देखिये श्री के. ह. ध्रुव का लेख Journal Of The Bihar & Orissa Research Society Vol, I V 1928.

४

'ध्रुवस्वामिनी' में अतिप्राकृत तत्त्व

युग-युग का जन-मानस इस बात को स्वीकार करता आया है कि अदृश्य नियति की क्रूर लीला मनुष्य के भाग्य को परिचालित करती है। उस क्रूर नियति का संकेत करने के लिए नाटक में अतिप्राकृत की योजना की जाती है। शेक्सपियर के नाटकों में यह अतिप्राकृत दो विभिन्न रूपों में प्रदर्शित हुआ है। अनेक समय बाह्य प्रकृति में विक्षोभ-परिकल्पनार्थ अतिप्राकृत का चित्रण हुआ है। नायक-नायिका के व्यक्तिगत जीवन से इसका सम्बन्ध नहीं रहता क्योंकि यह मानव-कल्पना के आधीन नहीं है। शेक्सपियर के 'जूलियस सीजर' नाटक में आकाश से अग्नि-वृष्टि, कब्र के अन्दर से मृतकों का पुनरुत्थान आदि वियोगान्त नाटक के वातावरण की सृष्टि करने में सहायक होते हैं। मैकबेथ के प्रथम दृश्यों में डाकिनियों की इङ्गितपूर्ण कथावार्ता तथा तरुलताहीन विस्तीर्ण मृत्यु-मय प्रान्तर-परिकल्पना में भी इसी रहस्य का प्रस्फुटन हुआ है है। नाट्यकार इसके द्वारा वियोगान्त नाटक के सकरुण घनान्धकार को और भी तीव्रतर कर देता है।

अनागत घटना के पूर्वाभास के रूप में भी अति-प्राकृत का प्रयोग शेक्सपियर के नाटकों में हुआ है। जूलियस सीजर में Calpurnea के स्वप्न द्वारा भावी घटना का पूर्वाभास स्पष्ट देखा जा सकता है।

नाटकों में अति-प्राकृत तत्त्व के समावेश का प्रधान उद्देश्य नाटकीय कथा-वस्तु की व्याख्या तथा सूचना है। प्रसादजी के 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में धूमकेतु के प्रसंग को लेकर अति-प्राकृत तत्त्व का समावेश हुआ है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित संवाद को लीजिये—

"मिहिरदेव—(ऊब कर आकाश की ओर देखता हुआ) तू नहीं मानती ? वह देख, नील लोहित रंग का धूमकेतु अविचल भाव से दुर्ग की ओर कैसा भयानक संकेत कर रहा है ?"

× × ×

कोमा—धूमकेतु को दिखाकर उन्होंने मुझ से कहा है कि तुम्हारे दुर्ग में रहने से अमंगल होगा।

शकराज—(भयभीत होकर उसे देखता हुआ) ओह, भयावनी पूँछ

वाला धूमकेतु ! आकाश का उच्छृङ्खल पर्यटक ! नक्षत्र लोक का अभिशाप ! कोमा ! आचार्य को बुलाओ । वे जैसा आदेश देंगे वैसा हो मैं करूँगा ? इस अमंगल की शान्ति होनी चाहिये । (धूमकेतु को बार-बार देखता हुआ) भयानक ! कोमा, मुझे बचाओ !"

धूमकेतु के सम्बन्ध में अनेक विश्वास लोगों में प्रचलित हैं । पिछले दिनों जब पुच्छल तारा दिखाई पड़ा तो उस पर अनेक लेख पत्र-पत्रिकाओं में लिखे गये । रामचरितमानस की निम्नलिखित अर्द्धाली से भी जान पड़ता है कि धूमकेतु चिरकाल से लोगों के भय का कारण रहा है—

"कह प्रभु हँसि जनि हृदय डराहू ।
लूक न असनि केतु नहिं राहू ॥"

यहाँ पर एक महत्वपूर्ण बात की ओर संकेत कर देना आवश्यक जान पड़ता है । फलित ज्योतिष में धूमकेतु के उदय का जो शुभाशुभ फल बतलाया गया है उसको हम चाहे मानें या न मानें पर जब कोई नाट्यकार अनागत घटनाओं के पूर्वाभास के रूप में नाटकीय कौशल का आश्रय ले धूमकेतु का दृश्य दिखलाता है तब दर्शक या पाठक को अनागत घटना का पूर्वाभास अवश्य मिल जाता है । उक्त प्रसंग में शकराज की मृत्यु धूमकेतु के अनिष्टकारी प्रभाव के कारण हुई हो या न हुई हो, पर पाठक यह अवश्य पहले ही जान लेते हैं कि शकराज का अनिष्ट होने वाला है ।

यहाँ पर इसका उल्लेख कर देना भी अप्रासंगिक न होगा कि नाटककार जब आलौकिक तत्त्व का समावेश करता है तो इससे यह निष्कर्ष निकालना कि यह उसका व्यक्तिगत मत या सिद्धान्त है, उचित न होगा । शेक्सपियर ने 'हैमलेट' में भूत का दृश्य दिखलाया है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि शेक्सपियर भूतों में विश्वास करता था । किसी नाट्यकार का अलौकिक तत्त्व में विश्वास चाहे हो भी, पर केवल नाटकीय कौशल के रूप में प्रयुक्त अलौकिक तत्त्व से वैसा कोई अनिवार्य निष्कर्ष हम नहीं निकाल सकते । तत्कालीन लोकमानस का परिचय देने के लिए भी नाटककार अपने नाटकों में अलौकिक तत्व की अवतारणा करते रहे हैं । नियतिवाद जिस नाट्यकार के स्वभाव का अङ्ग जान पड़ता है, बहुत संभव है इस प्रकार के अति-प्राकृत विधान में प्रसाद का विश्वास भी रहा हो किन्तु यहाँ कहना केवल यही है कि अति-प्राकृत की आवतारणा से ही किसी को अतिप्राकृतवादी समझने की भूल नहीं करनी चाहिए । यह समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है कि नाटकीय कौशल के रूप में अति-प्राकृत का प्रयोग जहाँ चित्त को चमत्कृत करता है, वहाँ वह नाटक के करुण रस को भी तीव्रतर बना देता है ।

आगे चलकर स्त्रीवेश में चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी जब शकराज के पास पहुँचते हैं, उस समय नाट्यकार ने अति-प्राकृत तत्त्व का बड़ा कुशल प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित संवाद को लीजिये—

"चन्द्रगुप्त-जी नहीं, यह नहीं हो सकता। ध्रुवस्वामिनी कौन है? पहले इसका निर्णय होना चाहिये।

ध्रुवस्वामिनी—(क्रोध से) चन्द्रे! मेरे भाग्य के आकाश में, धूमकेतु सी, अपनी गति बन्द करो।

शकराज—(धूमकेतु की ओर देख कर भयभीत-सा) ओह, भयानक! (व्यग्रभाव से टहलने लगता है)"

पाठक जानते हैं कि चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी को धूमकेतु के प्रसंग का कोई ज्ञान नहीं है। अनजान में ही ध्रुवस्वामिनी के मुख से निकल पड़ता है "मेरे भाग्य के आकाश में, धूमकेतु सी अपनी गति बन्द करो।" किन्तु ध्रुव-स्वामिनी के मुख से निकले हुए 'धूमकेतु' शब्द द्वारा शकराज भयतीत हो उठता है और आगे चल कर तो यहाँ तक कहने लगता है—"आचार्य ने ठीक कहा है, आज शुभ मुहूर्त नहीं। मैं कल विश्वसनीय व्यक्ति को बुलाकर इसका निश्चय कर लूँगा। आज तुम लोग विश्राम करो।"

ध्रुवस्वामिनी के मुख से 'धूमकेतु' शब्द का प्रयोग नाटकीय व्यंग्य (Dramatic irony) का अच्छा उदाहरण उपस्थित करता है; और नाट-कीय व्यंग्य एक प्रकार का नाटकीय कौशल ही तो है। शकराज-वध की पृष्ठ-भूमिका के रूप में 'धूमकेतु' शब्द के प्रयोग द्वारा शकराज के मन को भयभीत और विक्षुब्ध बना देना नाटक में एक बहुत ही उपयुक्त वातावरण की सृष्टि कर रहा है। 'ध्रुवस्वामिनो में नाटकीय कौशल के अनेक उदाहरण मिल जाते हैं।

'ध्रुवस्वामिनी' के अलौकिक तत्त्व के सम्बन्ध में एक बात और कही जायगी। कोमा के निश्छल प्रेम को ठुकराने वाले शकराज के वध द्वारा काव्य-न्याय का निर्वाह हो जाता है, यह हम स्वीकार कर सकते हैं, किन्तु रह रह कर यह प्रश्न अवश्य उठता है कि कोमा और मिहिरदेव का निर्मम वध कौन से न्याय द्वारा हुआ? जो मिहिरदेव शकराज को धूमकेतु दिखला कर उसके लिए आशङ्का, भय और अनिष्ट की मूर्ति खड़ी कर रहे थे, न वे मिहिरदेव ही रहे और न उनकी पालिता कोमा ही! ये दोनों निरीह प्राणी भी नियति के क्रूर चक्र द्वारा पीस दिये गये। क्या सचमुच कोई ऐसी अदृश्य शक्ति है जिसके

अंगुलि-निर्देश* से संसार का कार्य संचालित होता है ?

नाट्यकार द्वारा कोमा और मिहिरदेव को संसार से बिदा कर देना उचित हुआ या अनुचित, इस प्रश्न पर यहाँ जानबूझ कर ही विचार नहीं किया गया है; यहाँ तो 'ध्रुवस्वामिनी' का अति-प्राकृत तत्त्व ही लेखक का विवेच्य विषय रहा है।

---

*"There is a finger that directs our ends Rough hew them how we will."
(Shakespeare— Hamlet)

५

ध्रुवस्वामिनी देवी

'ध्रुवस्वामिनी देवी' नाम का एक गुजराती नाटक वर्षों पहले श्री कन्हैया-लाल माणिकलाल मुन्शी ने लिखा था। उसकी भूमिका में आप लिखते हैं:—

"ई० सन् ३०० के आसपास हिन्दभूमि अधिकांश भागों में पददलित हो रही थी। गोदावरी तट पर आन्ध्रों की सत्ता नष्ट हो गई थी। कोंकण, लाट, सुराष्ट्र, आनर्त, राजपूताना, पंजाब और गंगा-तीर पर परदेशी राजा राज्य करते थे। वे सबके सब 'अब्रह्मवर्चस' फल्गुदास्तीव्रमन्यव' और गर्व के पुतले थे। मगध में उस समय विश्वष्फणी का राज्य था। उसके बाद श्रीगुप्त नाम का राजा हुआ जिसका राज्य मगध और साकेत तक विस्तृत था। उसका पुत्र चन्द्रगुप्त था जिसका विवाह लिच्छवी वंश की कुमारदेवी के साथ हुआ था। जान पड़ता है, इन राजा रानी दोनों ने मिलकर राज्य किया था। चन्द्रगुप्त और कुमारदेवी प्राचीन भारतवर्ष में अद्वितीय युगल रहे हैं। उनके पुत्र समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त पर सम्पूर्ण दिग्विजय प्राप्त की थी। यह राजा 'कृतान्तपरशु' 'अजितराज जेताजित' 'सर्वराजोच्छेत्ता' 'व्याघ्रपराक्रम' 'पराक्रमांक' आदि उपाधियों से विभूषित हुआ। स्मिथ ने उसे भारतीय इतिहास का नैपलियन कहा है। आर्यावर्त का यह एक प्रबल स्रष्टा था। अश्वमेध यज्ञ करके 'अश्वमेध पराक्रम' का विरुद भी इसने प्राप्त किया था। विद्वानों को यह बहुत दान भी देता था। सिक्के पर लिखा मिलता है कि यह 'अप्रतिरथ वीर पृथ्वी को जीत कर अपने सुचरित से स्वर्ग को भी जीत रहा है।' यह स्वयं कविता भी करता और वीणावादन में बड़ा निपुण था। वीणा बजाते हुए इसकी छवि अनेक सिक्कों पर आज भी अंकित है। समुद्रगुप्त की प्रशस्ति में महादण्डनायक हरिसेन की उक्ति है—

आर्यो हीत्युपगुह्य भावपिशुनैरुत्कर्णितै: रोमभि:
सभ्येषूच्छ्वासितेषु तुल्यकुलजम्लानाननोद्वीक्षितः।
स्नेहव्यालुलितेन वाष्पगुरुणा तत्वेक्षिणा चक्षुषा
य: पित्राभिहितो निरीक्ष्य निखिलां पाह्येवमुर्वीमिति

अर्थात् आनन्द से पुलकित होकर, स्नेह-भीनी तत्त्वदर्शी दृष्टि से देख

कर पिता ने 'यह सर्वथा योग्य है' ऐसा कह कर जिसे पृथ्वी का पालन करने का आदेश दिया था, तुल्य कुल वालों ने (स्वयं उपेक्षित होने के कारण) जिसकी ओर म्लान-मुख से देखा था और दरबारियों ने जिसे देखकर सन्तोष की साँस ली थी—ऐसा था समुद्रगुप्त।

इतिहासकार मानते थे कि समुद्रगुप्त के बाद उसका पुत्र चन्द्रगुप्त गद्दी पर बैठा जो 'परम भागवत' 'सिंहविक्रम' 'परम भट्टार्क' का विरुद प्राप्त कर विक्रमादित्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कालिदास इसी विक्रमादित्य का मित्र था, ऐसा बहुत से विद्वान मानते हैं। किन्तु समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त के बीच में थोड़े समय के लिए समुद्रगुप्त का बड़ा पुत्र रामगुप्त सिंहासन पर बैठा था, यह नयी खोज डा० सिल्वाँ लेवी ने की थी। यह रामगुप्त कैसा विलासी और मद्यप था तथा किस प्रकार इसकी मृत्यु हुई, इसके सम्बन्ध में मुद्राराक्षस के रचयिता विशाखदत्त ने 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नामक नाटक लिखा था जो आज सम्पूर्ण रूप में तो उपलब्ध नहीं है किन्तु डा० अल्टेकर तथा रा० केशवलाल ध्रुव आदि ने उक्त नाटक के खंडाशों के आधार पर नाटक के कथानक का अनुमान लगाया है।" श्री मुंशीजी ने इतिहास तथा कल्पना के योग से 'ध्रुवस्वामिनी देवी' नामक एक सुन्दर नाटक की सृष्टि की है जो चार अंकों में समाप्त होता है। इस नाटक का समय लगभग ई० सन् ३८७ के बाद का है।

कथानक—महाराज समुद्रगुप्त के स्वर्गवास के बाद उनका बड़ा पुत्र रामगुप्त मगध की राजधानी कुसुमपुर में राज्य करने लगा। चंपावती के अच्युतदेव की कन्या ध्रुवदेवी पट्टमहिषी के पद पर आसीन हुई। समुद्रगुप्त के जीवन-काल में ही उज्जयनी की सीमा पर सुराष्ट्र, आनर्त तथा मालवा के महाक्षत्रप रुद्रसेन के साथ गुप्तसेना की लड़ाई हो रही थी और रामगुप्त का छोटा भाई चन्द्रगुप्त उसी युद्ध में गया हुआ था। जो शक समुद्रगुप्त के नाम से काँपते थे वे अब निर्भय होकर जोर पकड़ने लगे। चन्द्रगुप्त इस उद्देश्य से कुसुमपुर आया कि वह रामगुप्त को उज्जयनी ले जाय ताकि सेना को प्रोत्साहन मिले। ध्रुवदेवी के विवाह से पहले चंपावती में अच्युतदेव के यहाँ ध्रुवदेवी और चन्द्रगुप्त परस्पर मिल चुके थे। शौर्य और तेज में ध्रुवदेवी उस समय विद्युल्लेखा की भाँति आलोक विकीर्ण कर रही थी किन्तु रामगुप्त के अंतःपुर में आने के बाद वह जीवन से विरक्त सी दिखाई पड़ने लगी। उज्जयनी से लौटने पर चन्द्रगुप्त जब उससे मिला तो उसने बड़ा प्रयत्न किया कि ध्रुवा इस उदासीनता को छोड़कर सरस जीवन व्यतीत करने लगे। ध्रुवा और चन्द्रगुप्त की बातें हो ही रही थी कि रामगुप्त उधर आ गया। रामगुप्त ने चन्द्रगुप्त से कहा—

मैंने तो गुहसेन के हाथों पहले ही कहलवा दिया था कि मुझे मिलने की फुरसत नहीं, फिर तुम यहाँ क्यों ? चन्द्रगुप्त ने यह सुनकर क्षुब्ध आश्चर्य से दाँतों तले उँगली दबाई कि पराक्रमदेव के पुत्र को युद्ध का सदेश सुनने की फुरसत नहीं ! एक श्रोत्रिय ब्राह्मण को जो गुरु- दक्षिणा के लिये आया था रामगुप्त ने निराश लौटा दिया था किन्तु ध्रुवस्वामिनी ने उसको बुला भेजा था। वह भी इसी समय आ उपस्थित हुआ। चन्द्रगुप्त ने अपने गले का हार तथा कानों के कुण्डल निकाल कर उसे दे दिये। रामगुप्त को यह सब अच्छा नहीं लगा। जब परस्पर बात बढ़ ही रही थी कि रामगुप्त और चन्द्रगुप्त की माता दत्तदेवी वहाँ आ गई। दत्तदेवी ने रामगुप्त को बहुतेरा समझाया कि गुप्त कुल की सम्मान-रक्षा के लिए तुम्हें अवश्य ही युद्धस्थल में पहुँचना चाहिए किंतु रामगुप्त किसी तरह जाने के लिए तैयार नहीं होता। ऐसी परिस्थिति देख ध्रुवदेवी ने कहा कि यदि आवश्यकता हुई तो मैं शकों से जाकर युद्ध करूँगी।

लगभग ढ़ाई महीने बाद शक-सेना ने उज्जयनी विजय प्राप्त करली। इस पराजय के कारण गुप्त साम्राज्य के महादण्डनायक उन्दान और भटाश्वपति रोहल अपने जीवन को बार-बार धिक्कारने लगे। सन्धिविग्रहिक हरिसेन के साथ क्षत्रप रुद्रसेन गुप्त शिविर में आया और सन्धि की चर्चा होने लगी। रुद्रसेन ने यह शर्त रखी कि यदि ध्रुवदेवी उसे दे दी जाय तो वह बिना युद्ध किये लौट जायगा। यह सुनकर महादण्डनायक आदि आगबबूला हो उठे। रामगुप्त ने यह शर्त स्वीकार करली किन्तु चद्रगुप्त से न रह गया। उसने स्वयं ध्रुवस्वामिनी का वेश बनाया और स्त्री-वेश में २० योद्धाओं को साथ लेकर हरिसेन के साथ शकपति के यहाँ गया। फिर क्या था, यह खबर मिलते ही गुप्त साम्राज्य के अन्य बहुत से योद्धा शकों से युद्ध करने के लिए तैयार हो गये। युद्ध में चन्द्रगुप्त की विजय हुई किन्तु जब यह शक शिविर से लौट कर आया तो उसे पता चला कि राजगुप्त की आज्ञा से गुहसेन बलपूर्वक ध्रुवस्वामिनी को मगध ले गया है। यह खबर सुनकर चन्द्रगुप्त पृथ्वी पर गिर पड़ा। इस घटना के करीब पाँच महीने बाद चन्द्रगुप्त बौद्ध भिक्षु वसुबन्ध के साथ कुसुमपुर आया। रामगुप्त चन्द्रगुप्त के बध के लिए षड़यन्त्र कर रहा था। चन्द्रगुप्त पागल की तरह आचरण करने लगा। अपनी माता दत्तदेवी से कहता'—अम्बा ! अचार्यदेव जब अश्वमेध यज्ञ करवा रहे थे तब उन्होंने घोड़ों से कहा था—वत्सो ! हँसा करना किन्तु अम्बा ! हे अम्बा ! ये अश्व तो उस आज्ञा का पालन नहीं कर रहे; इनके आँसुओं की धारा से तो चारों ओर प्रलय का दृश्य उपस्थित हो रहा है। सबका स्वामी वह अश्वमेधमहापराक्रम

इस संसार से चल बसा ! अश्वमेध यज्ञ बेकार सिद्ध हुआ ! ये घोड़े अपनी-अपनी अश्रुधारा में सबको डुबो देंगे।' ध्रुवदेवी से तो चन्द्रगुप्त ने स्पष्ट ही कह दिया था कि मैं तुमसे मिलने तथा कुसुमपुर आने के लिए ही पागल बना था। ध्रुवदेवी तथा चन्द्रगुप्त की बहुत देर तक बातचीत होती रही। इसी बीच में गुहसेन को लिए हुए नशे में चकनाचूर रामगुप्त उधर आ निकला और उसने गुहसेन को आज्ञा दी कि वह इसी समय चन्द्रगुप्त का वध कर डाले। किन्तु इसके पहले चन्द्रगुप्त ही रामगुप्त पर टूट पड़ा और उसका काम तमाम कर डाला और बड़बड़ाने लगा—'हे घोड़ों ! हँसो, हँसो। अब पराक्रमदेव का पुण्य तपने लगा है। कीर्ति और धर्म को निर्मूल करने वाले चाण्डालो ! इस पृथ्वी का अब तुम से पिण्ड छूटा ! अश्व-राजो ! हँसो, हँसो।, गुहसेन को पकड़ लिया गया। यह कोशिश की गई कि रामगुप्त के वध का किसी को पता न चले। मंत्रीश्वर वात्स्य, महादण्डनायक उन्दान तथा सन्धिविग्रहिक हरिसेन मिलकर मंत्रणा करने लगे कि किसकी आन फेरी जाय। योगीश्वर याज्ञवल्क्य जब आये तब उन्होंने कहा कि गुप्त-कुल की कीर्ति और धर्म का भार वहन करने में जो समर्थ हो उसी को राज्य का अधिकारी बनाना चाहिए। दत्तदेवी ने कहा कि ध्रुवदेवी के हाथों ही राज्य-दण्ड सौंपना श्रेयस्कर होगा। याज्ञवल्क्य ने भी इसका समर्थन किया और ध्रुवदेवी की आन फेर दी गई। कुछ समय बाद ही उज्जयनी से एक घुड़सवार यह सन्देशा लेकर आया कि शकपति वाकाटक ने प्रवरसेन के साथ संधि करली है और दोनों की सम्मिलित सेनाएँ उज्जयिनी पर आक्रमण करने वाली हैं। रक्षा का उपाय सोचा जाने लगा। चन्द्रगुप्त ने कहा कि मेरे पिता के घोड़े मुझे बुला रहे हैं और यह लो, मैं तो सुराष्ट्र को नष्ट करने चला ! ध्रुवदेवी ने कहा कि यदि चन्द्रगुप्त की इच्छा है तो उन्हें युद्ध में जाने दो, साथ में उन्दान आदि तो हैं ही; फिर कोई हरकत नहीं।

चार पाँच महीने पीछे मध्य-रात्रि का दृश्य है। कुसुमपुर के सुदृढ़ राजमहालय को शत्रु-सेना ने घेर लिया। बहुत सी प्रजा भी स्कंदगुप्त के पक्ष में हो गई। महामंत्री वात्स्य को भी उन्होंने अपने पक्ष में कर लिया। किन्तु जब बड़ी प्रतीक्षा के बाद चन्द्रगुप्त किसी तरह राजमहालय में आगया तो सबके जी में जी आया। चन्द्रगुप्त ने खबर दी कि उन्दान सेना के साथ आ रहा है। चन्द्रगुप्त के प्रयत्नों से सुराष्ट्र पर भी गुप्त साम्राज्य का अधिकार हो गया। राजमहालय के एकांत में चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी से कहता है कि ध्रुव-देवी ! संसार में यह जादू कौन करे कि यह सारा जगत लुप्त हो जाय और व्योम पर आवरण छा जाय और हम दोनों अभेद्य एकांत में चिर-काल तक

आलिंगन-पाश में आबद्ध हो जायँ और इस जगत् को देखने तक की परवाह न करें। कुछ समय बाद ऐसी आवाज आती है जैसे महालय के द्वारों को हाथी तोड़ रहे हों। चन्द्रगुप्त शत्रुओं से लोहा लेने के लिए फाटक से बाहर जाने के लिए तैयार हुआ। इतने में दत्तदेवी और हरिसेन भी आ गये। चन्द्रगुप्त ने युद्धार्थ जाने से पहले यह इच्छा प्रकट की कि ध्रुवस्वामिनी के साथ इसी समय उसकी लग्नविधि पूरी करवा दी जाय। कालिदास ने कहा कि धर्म को यह कार्य चाहे रुचे या न रुचे, प्रणय-धर्म के अनुसार तो वह संगत है। इतने में याज्ञवल्क्य शान्ति-पूर्वक आकर कहते हैं कि धर्म को यह कार्य क्यों न रुचेगा? धर्म और नीति दोनों इस लग्न का समर्थन करेंगे। यह लग्न अथर्वांगिरस, कौटिल्य और याज्ञवल्क्यस्मृति, तीनों को मान्य है। वहीं दोनों की लग्न-विधि सम्पन्न हुई और दोनों को याज्ञवल्क्य का आशीर्वाद मिला। अब चन्द्रगुप्त शत्रुओं का मुकाबला करने के लिए बाहर निकला किन्तु उसके सामने किसी की एक न चली। वात्स्य, स्कंद आदि सभी ने चन्द्रगुप्त के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया। चन्द्रगुप्त तथा ध्रुवदेवी सिंहासन पर बैठे और याज्ञवल्क्य ने आशीर्वाद दिया—

यस्मिन् देशे मृगः कृष्णः तस्मिन् धर्मान् निबोधत।

गुजराती के इस नाटक का हिन्दी में भी अनुवाद हो चुका है।

६

ध्रुवा

बंगला के ऐतिहासिक उपन्यास-लेखकों में स्वर्गीय बाबू राखालदास का महत्वपूर्ण स्थान है। उपन्यास-लेखक होने के साथ-साथ आप अनेक इतिहास-ग्रंथों के प्रणेता और सुप्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता थे। मोहेंजोदोड़ो की खोज का श्रेय आपको ही प्राप्त है। शशाङ्क, मयूख, करुणा और ध्रुवा आपके प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास हैं। सं १९८८ में 'प्रवासी' के कई अङ्कों में ध्रुवा उपन्यास क्रमशः प्रकाशित हुआ था। प्रसादजी ने अपना ध्रुवस्वामिनी नाटक सं० १९९० में लिखा था। प्रसादजी के 'स्कन्दगुप्त' पर जिस प्रकार 'करुणा' की छाप है, उसी प्रकार 'ध्रुवस्वामिनी' पर 'ध्रुवा' की; किन्तु जहाँ तक कथा के विकास का सम्बन्ध है, दोनों कथानकों में पूरी समानता नहीं है। 'ध्रुवा' का कथानक अत्यन्त संक्षेप में नीचे दिया जा रहा है ताकि पाठक प्रसादजी के नाटक और राखालबाबू के उपन्यास का तुलनात्मक अध्ययन कर सकें।

कथानक—पाटलिपुत्र की नटियाँ साधारण देह-व्यवसाय करने वाली न थीं। नाच-गान आदि में कुशल होने पर जो विख्यात होती थीं वे प्राचीन स्वतन्त्र भारत में 'गणिका' कही जाती थीं। जब से इस शब्द का बुरे अर्थ में प्रयोग होने लगा तब से वे कला-कुशल नारियाँ नटी कहलाने लगीं। नटियाँ नगर के स्वतन्त्र टोले में रहती थीं। नगराध्यक्ष एवं राजधानी के महाप्रतिहार इनकी सम्मति से इन्हीं में से किसी को मुख्या निर्वाचित कर लिया करते थे।

माधवसेना नटियों की मुख्या थी। एक दिन रामगुप्त ने उद्यान में ले जाकर कशाघात से उसे जर्जर कर दिया था। अन्य नटियों ने उसे सलाह दी कि तुम रामगुप्त पर अभियोग चलाओ किन्तु माधवसेना ने कहा—अरे, मैं वहाँ कैसे जाऊँ! जानती नहीं, वृद्ध महाराज अस्वस्थ हैं।

ब्राह्मण रुचिपति को साथ लिए मदिरा के नशे में मस्त रामगुप्त उद्यान-विहार के लिए निकला। माधवसेना को उद्यान में ले चलने के लिए दोनों ने उसे घसीटना शुरू किया और अपने रथ के पास तक ले आये। माधवसेना की करुण-चीत्कार सुनकर चार सशस्त्र प्रतिहारों के साथ नगर के महाप्रतिहार रुद्रभूति नटी-टोले में घुसे। वे वृद्ध थे; महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त के बाल-सहचर थे। सहसा रामगुप्त का हाथ छुड़ा कर माधवसेना ने रुद्रभूति के पैर पकड़ लिए और कहा-महाप्रतिहार, मेरी पत रखिये। कुमार रामगुप्त हमें उद्यान

में ले जाकर हमारे ऊपर अमानुषिक अत्याचार करते हैं। रामगुप्त राजकुमार हैं सही, किन्तु क्या हम मोल ली हुई दासी हैं ? क्या प्रजा को कुछ भी स्वतन्त्रता नहीं ?

महाप्रतिहार ने रामगुप्त से कहा—कुमार, आप प्रातः स्मरणीय परम वैष्णव परमेश्वर परम भट्टारक महाराजाधिराज समुद्रगुप्त के पुत्र हैं। आपको इस प्रकार का नीति विरुद्ध आचारण शोभा नहीं देता, ऐसा करना घोर अन्याय है, आप माधवसेना के शरीर पर हाथ न लगाइयेगा। किन्तु रामगुप्त ने एक न सुनी। इतने में जगद्धर को साथ लिए चन्द्रगुप्त उधर से आ निकला। उसने सब देख-सुनकर कहा—महाराज समुद्रगुप्त के जीवित रहते उनके राज्य में नारी पर कोई हाथ नहीं उठा सकेगा। चन्द्रगुप्त ने जगद्धर से कहा—तुम माधवसेना को प्रासाद ले जाओ, मैं पीछे आऊँगा। रामगुप्त अब रोकने के लिए बढ़ा तो चन्द्रगुप्त आगे खड़ा हो गया। मद से छका हुआ रामगुप्त पृथ्वी पर गिर पड़ा।

सभा-मंडप का नाम समुद्र-गृह था। रामगुप्त ने अभियोग लगाया—चन्द्रगुप्त बलपूर्वक मुझसे छीन कर माधवसेना को क्यों लिये जाता है ? मैं इसका न्याय चाहता हूँ। चन्द्रगुप्त को सभा-मंडप में बुलाया गया। चन्द्रगुप्त के मुख से सब हाल सुनकर महाराज समुद्रगुप्त ने कहा—प्रजा-पालन ही राज-धर्म है। माधवसेना को क्षतिपूर्ति के रूप में एक सहस्र सुवर्ण-मुद्राएँ देकर राजकीय रथ में बैठाकर घर भिजवादो और कह दो कि वृद्ध होने पर भी समुद्रगुप्त अभी जीवित है, यह बात न भूले। रामगुप्त को कारागार में डालने का हुक्म दे दिया गया।

महानायकवर्ग की अनुमति और महाराज समुद्रगुप्त के आदेशानुसार महापुरोहित नारायण शर्मा ने वैशाख शुक्ला तृतीया को युवराज का अभिषेक और पूर्णिमा को उनके विवाह का दिन नियुक्त कर दिया।

महाराज समुद्रगुप्त ने पचीस वर्ष पहले जयस्वामिनी से गांधर्व-विवाह किया था और देव-विग्रह को छूकर प्रतिज्ञा की थी कि जयस्वामिनी की कोख से उत्पन्न पुत्र को राज सिंहासन पर बिठलाया जायगा। यह बात महाराज ने अपने हाथ से लिख कर जयस्वामिनी को देदी थी—'स्वहस्तोऽयं मम महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्तस्य।' जयस्वामिनी ने समुद्रगृह में आकर सबके सामने यह बात रखी। चन्द्रगुप्त की माता दत्तदेवी ने कहा कि समुद्रगुप्त ने कभी अपनी प्रतीज्ञा नहीं तोड़ी, आज भी न तोड़ेंगे। कुमार रामगुप्त ही यौवराज्य पद पर अभिषिक्त होंगे। कहाँ उसके राज्याभिषेक का हुक्म महाराज समुद्रगुप्त को सुनाना पड़ा। विधि के विधान के सामने किसका वश चल सकता है ?

माता की आज्ञा से चन्द्रगुप्त ने भी विधि के इस विधान को स्वीकार कर लिया। रामगुप्त के राज्याभिषेक की बात सुनकर सभी महानायकों ने अपने-अपने पदों का त्याग करने का निश्चय किया किन्तु दत्तदेवी के आग्रहपूर्ण अनुरोध के सामने उन्हें सिर झुकाना पड़ा।

धरवंश की कन्या रुद्रधर की पुत्री ध्रुवा के सम्बन्ध में यह निश्चय हुआ था कि वह गुप्त साम्राज्य के युवराज की वाग्दत्ता पत्नी होगी। ध्रुवा ने चन्द्रगुप्त को मन ही मन पति के रूप में वरण कर लिया था। किन्तु आज स्थिति बदल गई थी। इसलिए चन्द्रगुप्त ध्रुवा से अन्तिम विदा लेने के लिए आया। चन्द्रगुप्त ने राज्य छोड़ देने का निश्चय कर लिया था। ध्रुवा भी चन्द्रगुप्त के साथ चलने के लिए तैयार हो गई किन्तु रुद्रधर ने ध्रुवा को बाँधकर नाट्यशाला के नेपथ्य-गृह में बन्दी करने का आदेश दिया और ध्रुवा से कहा— समझ रख, आर्यावर्त में कन्या पिता की सम्पत्ति है। सिर उठाकर कन्या ने उत्तर दिया—पिता, तुम भी यह जान लो, आर्यावर्त में नारी स्वामी की सम्पत्ति है। ध्रुवा चंद्रगुप्त की पत्नी है, इसलिए अब तुम्हारा मुझ पर कुछ भी अधिकार नहीं है।

महाराज समुद्रगुप्त का स्वर्गवास हो गया। अन्त्येष्टि क्रिया के समय रामगुप्त की तलाश हुई। रामगुप्त ने कहा कि प्रासाद के हीरे मोती आदि जब मुझे मिल जायँगे तभी महाराज की अन्त्येष्टि-क्रिया हो सकेगी। दत्तादेवी ने अपने भाण्डारी को बुलाकर कहा कि सब कुञ्जियाँ जयदेवी को सौंप दो। उसने अपने रत्नाभरण और वस्त्र भी उतार दिये और दूसरों से भीख माँगकर वस्त्र पहने। चंद्रगुप्त ने भी माता के आदेश से ऐसा ही किया। चन्द्रगुप्त ने प्रतिज्ञा की कि महाराजाधिराज रामगुप्त के जीते जी समुद्रगुप्त का पुत्र चंद्रगुप्त अर्यापट्ट में हाथ न लगायेगा। दत्तादेवी और चन्द्रगुप्त प्रासाद से बाहर हो गये।

समुद्रगुप्त के श्राद्ध के पश्चात् दत्तादेवी ने पाटलिपुत्र के महाश्मशान में एक जीर्ण शिव-मन्दिर में आश्रय लिया। माधवसेना चन्द्रगुप्त का दिल बहलाने लगी। माधवी के कहने से चन्द्रगुप्त ने सुरा पीना आरम्भ किया जिससे वह ध्रुवा को भूल जाय। किन्तु कदम्ब माल से गुँथे हुए भौंरों-जैसी ध्रुवा की कुन्तल-राशि आँखों के सामने से न हटी। उसका अश्रुरुद्ध कण्ठ, उसका खिले कमल के समान मुख सदा सामने आ जाता था।

चन्द्रगुप्त को समाचार मिला कि रुद्रधर ने विवाह के पहले ही ध्रुवा को प्रासाद में भेज दिया है जिससे रामगुप्त और किसी से विवाह न करले। चन्द्रगुप्त यह सुनकर उत्तेजित हो उठा और उन्मत्त की भाँति ध्रुवा की रक्षा

के उद्देश्य से आगे बढ़ने लगा किन्तु माधवसेना ने बड़ी मुश्किल से उसे रोका। माधवसेना स्वयं ध्रुवा की रक्षा के लिए तत्पर हुई।

रामगुप्त के सिंहासन पर बैठने के महीने भर के भीतर ही तीन ओर से शकों ने गुप्त राज्य पर आक्रमण कर दिया। समुद्रगुप्त के पुराने कर्मचारी एक-एक करके तीर्थवास करने चले गये थे। नवीन सेनापति जयनाग तलवार की अपेक्षा वीणा धारण करने में अधिक कुशल था। अतः दक्षिण में कौशाम्बी और उत्तर में कान्यकुब्ज पर अधिकार कर शक प्रयाग की ओर बढ़े। रुद्रधर ने रामगुप्त से प्रार्थना की कि वह उसकी पुत्री ध्रुवा से विधिवत् विवाह करले। किन्तु रामगुप्त टालता रहा। उसके मन्त्री रुचिपति ने जब यह कहा कि अभी जल्दी क्या है, दो चार दिन मैं उसको उद्यान मे ले जाकर शिष्टाचार की शिक्षा तो दे लूँ तो वृद्ध महानायक रुद्रधर से रहा न गया। उसने रुचिपति के लम्बे बालों को पकड़ लिया और उसको सुखासन से नीचे खींचते हुए कहा—"तो अरे, ब्राह्मण कुलाङ्गार, मेरी बेटी को शिष्टाचार सीखने के लिए तेरे साथ उद्यान-विहार को जाना होगा ? ब्राह्मण, तू ही न गुप्त साम्राज्य का अमात्य है ?

रामगुप्त ने रुद्रधर को बन्दी करने का हुक्म दिया किन्तु किसी ने उसके हुक्म की परवाह नहीं की। प्रायश्चित्त स्वरूप रुद्रधर ने तलवार निकाल कर उसको आमूल अपनी छाती में घुसेड़ लिया। उष्ण नर-रक्त का फुहारा फूट निकला। ध्रुवदेवी भी इस समय आ गई और मृत पिता के शव के ऊपर पछाड़ खाकर गिर पड़ी।

ध्रुवदेवी जान्हवी में अपना शरीर विसर्जन करने के लिए निकली। दत्तदेवी ने देवगुप्त और रविगुप्त की सहायता से उसे बचा लिया। दत्तदेवी को जब इस बात का पता चला कि नटियों के टोले का विट रुचिपति ध्रुवा के शरीर पर हाथ लगाना चाहता था, तब उसने कहा कि ऐसे राज्य में दतदेवी की अब भी आवश्यकता है। माधवसेना युवक का वेष बनाकर सब दृश्य देख रही थी। चन्द्रगुप्त को दिखलाने के लिए वह दत्तदेवी को अपने यहाँ ले गई। दत्तदेवी माधवसेना के घर पर अपने पुत्र चन्द्रगुप्त से मिली, उसे सब वृत्तान्त कह सुनाया और पाटलिपुत्र चलने का आदेश दिया। माधवसेना भी कवच धारण करके साथ हो ली।

जो शकराज समुद्रगुप्त के आगे हाथ जोड़कर पिता के सिंहासन के सम्मुख खड़ा रहता था, उसी ने रामगुप्त के पास आदेश भिजवाया कि तुम अपनी पट्टमहिषी को मेरी चरण-सेवा करने मथुरा भेज दो। रामगुप्त का सेनापति था भद्रिल, नटी चंदना का मौसेरा भाई जो युद्ध के समय चक्रव्यूह

की रचना करने को कहने पर, संभव है, कह उठे ताकिधिनाधिन् ताकिधिनाधिन।' रुचिपति की मंत्रणा से निश्चित हुआ कि ध्रुवा को शकराज के पास भिजवा दिया जाय।

दत्तदेवी मन्त्र-गृह के द्वार पर पहुँची। रामगुप्त को पता लगा तो बड़े सम्मान से दत्तदेवी को अन्दर ले गया और कहा—माँ, अपराध क्षमा करो, ध्रुवा के साथ पशु-सदृश व्यवहार किया है किन्तु अब स्वयं अपनी भूल समझली है और अभी-अभी प्रतिहारों और दण्डधरों को शिविका लेकर महादेवी ध्रुवा को सम्मानपूर्वक प्रासाद में लौटा लाने के लिए भेजा है। दत्तदेवी ने रामगुप्त के इस अभिनय को सच्चा समझा और कहा—मेरी अनुमति पाये बिना ध्रुवा न लौटेगी, इससे में लौटी जाती हूँ।

नगर घोषणाकर्ता की भाँति रुचिपति ने कहा—'नागरिकगण, आप लोगों के अटूट अनुरोध से महाराज रामगुप्त ने अत्यन्त व्यथित चित्त से शकराज के कथनानुसार ध्रुवा को मथुरा भेजना स्वीकार किया है। अतः आप लोग निश्चिन्त होकर घर लौट आइये। अब युद्ध की आशङ्का नहीं है।' लपक कर रविगुप्त ने रुचिपति की गरदन पकड़ली और कहा—अरे नराधम, क्या कहता है?' वृद्ध देवगुप्त और रविगुप्त ने निश्चय किया कि जब तक समुद्रगुप्त के नगर की रक्षा की आवश्यकता है, तब तक हम दोनों पाटलिपुत्र को नहीं छोड़ेंगे।

ध्रुवा को साथ लेकर भद्रिल ने मंत्रणा-गृह में प्रवेश किया और साथ ही रुचिपति ने सुखासन छोड़ते हुए कहा—'महाराज, दाम्पत्य-प्रेम की बातचीत एकान्त में ही अच्छी होती है, इससे मैं तो चला।' रामगुप्त ने ध्रुवा से कहा—पाटलिपुत्र के नागरिक शकराजा के आक्रमण के भय से आपे में नहीं हैं। उनके बारबार अनुरोध करने से मैंने तुम्हें शकराजा के पास मथुरा भेजना अंगीकार किया है। यह सुनते ही ध्रुवा मूर्छित हो गई। दासी ध्रुवा के मुँह पर पानी के छींटे डाल कर पंखा झलने लगी। यह दासी थी नटियों की प्रधान माधवसेना। ध्रुवा जब होश में आई तब उसने दासी से कहा कि मेरे स्वामी चन्द्रगुप्त को इसकी सूचना दे दो। फिर ध्रुवा और रामगुप्त में वार्तालाप होने लगा। जब रामगुप्त ने कहा कि तुम पाटलिपुत्र को बचाओ, मैं वर्ष भर के भीतर ही मथुरा जीत कर तुमको ले आऊँगा तब ध्रुवा से भी न रहा गया। उसने कहा—तुम पुरुष कहलाने योग्य नहीं, तुम दासी-पुत्र हो। रामगुप्त ने कहा—भद्रिल, इसे बाँधलो। दत्तदेवी ने इसी समय मंत्रणा-गृह में प्रवेश किया और कहा—किसे बन्दी करते हो रामगुप्त? ध्रुवा आँधी के वेग से झपट कर दत्तदेवी की छाती से लिपट गई और आर्त कण्ठ से पुकारने लगी—

माँ, माँ ! रामगुप्त ने दत्तदेवी को पकड़ने का आदेश दिया किन्तु सिंहनी के समान महादेवी के शरीर पर हाथ लगाने का साहस किसी में नहीं था। महादेवी ने आदेश दिया—'पाटलिपुत्र में कोई पुरुष है ?' वाक्य पूरा होने के पहले ही अगणित सशस्त्र पुरुष श्रेणीबद्ध होकर मंत्र-गृह में घुस आये। महादेवी ने फिर आदेश दिया—'इस कुलङ्गार को आर्यपट्ट से उतार कर बन्दी करो।' रामगुप्त को सिंहासन से उतार दिया गया। 'जय महाराज चन्द्रगुप्त की जय' की तुमुल ध्वनि के साथ चन्द्रगुप्त ने माधवसेना के साथ मंत्र-गृह में प्रवेश किया। दत्तदेवी ने चन्द्रगुप्त से राजसिंहासन ग्रहण करने के लिए कहा किन्तु रामगुप्त के जीते जी चन्द्रगुप्त ऐसा करने के लिए राजी न हुआ। चन्द्रगुप्त ने रामगुप्त से कहा कि तुम्हीं सिंहासन पर बैठो। मैं दो भिक्षाएँ माँगता हूँ—एक तो यह है कि कुलवधू को शकराज के यहाँ न भेजिये। दूसरी यह है कि चन्द्रगुप्त के जीते जी ध्रुवा की देह पर हाथ न लगाइये। ध्रुवा शकराज के पास नहीं जायगी, ध्रुवा का वेश जायगा और उस वेश में जायगा चन्द्रगुप्त। चन्द्रगुप्त ने माता से आज्ञा माँगी। दत्तदेवी ने कहा—अशीर्वाद देती हूँ, विजयी हो। चन्द्र, ऐसी माँ ने तुझको गर्भ में धारण नहीं किया जो वीर-कार्य में पुत्र की विपत्ति की आशंका से विदा के समय आँखों में आँसू लायेगी।

एक शक सैनिक ने शकराज के सिंहासन के समीप पहुँचकर अभिवादन किया और कहा—महाराजाधिराज की जय ! परमेश्वरी परम भट्टारिका मगध की पट्टमहादेवी ध्रुवादेवी ५०० कुलबालाओं के साथ सभा-मण्डप के द्वार पर उपस्थित है। वेश बदले हुए चन्द्रगुप्त ने द्वन्द्व युद्ध में शकराज वासुदेव का काम तमाम कर दिया।

चन्द्रगुप्त की अनुपस्थिति में पाटलिपुत्र की अवस्था बड़ी शोचनीय हो गई। रामगुप्त एक नागरिक की कन्या को घसीट कर उद्यान ले गया। नागरिक ने रामगुप्त का वध कर डाला। चन्द्रगुप्त मथुरा से लौट कर आया। ध्रुवा को छोड़ कर चन्द्रगुप्त राज्य का ऐश्वर्य नहीं चाहता। बहुत वाद-विवाद के बाद सबने एक स्वर से स्वीकार किया कि चन्द्रगुप्त ध्रुवा को राजमहिषी बना कर सिंहासन पर बैठ सकता है।

जिस नागरिक की कन्या को रामगुप्त घसीट कर ले गया था, उसके सम्बन्ध में फैसला हुआ कि वह पवित्र है। ध्रुवा के भाई जगद्धर ने उसे पत्नी के रूप में ग्रहण किया। रामगुप्त की माता जयस्वामिनी ने कहा—महानायक-वर्ग, द्वादशप्रधान ! मुक्त हृदय से मेरा अनुरोध है कि मेरे पुत्रघाती को क्षमा कर दिया जाय।

फिर भीषण जय-ध्वनि से पाषाण-निर्मित सभा-मण्डप हिल उठा। रुचिपति के दण्ड का विचार नगर-मण्डल को सुपुर्द कर दिया गया।

तब चन्द्रगुप्त तथा ध्रुवा दोनों आर्यपट्ट पर आसीन हुए । अर्द्ध रात्रि में ऐन्द्रथ महाभिषेक प्रारम्भ हुआ।*

हिन्दी, बँगला तथा गुजराती के अतिरिक्त अन्य किसी भारतीय भाषा में भी ध्रुवस्वामिनी को लेकर कोई साहित्य रचा गया हो तो तुलनात्मक अध्ययन के लिए वह सुलभ होना चाहिए। 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नामक विशाखदत्त का सम्पूर्ण नाटक यदि आज उपलब्ध होता तो ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त की कथा के सम्बन्ध में इतनी विभिन्न कल्पनाएँ न करनी पड़तीं। इतिहासकारों ने बिखरे हुए सूत्रों को जोड़ कर कुछ इस तरह का कथानक कल्पित कर लिया है—

"समुद्रगुप्त के बाद उसका बड़ा पुत्र रामगुप्त गद्दी पर बैठा । उसकी स्त्री का नाम था ध्रुवा। शकराजा के साथ किसी युद्ध में वह इस तरह से घेर लिया गया, कि अपनी प्रजा की रक्षा अथवा अपने मंत्रि-वर्ग को सन्तुष्ट करने के लिए‡ उसने अपनी रानी को शकराजा के पास भेज देना स्वीकार कर लिया। उसके छोटे भाई चन्द्रगुप्त ने इस कार्य का विरोध किया और शकराजा को मारने के लिए वह स्वयं ध्रुवा का वेश बना कर वहाँ गया। चन्द्रगुप्त को इस कार्य में सफलता मिली । इससे प्रजा तथा ध्रुवा की दृष्टि में वह बहुत ऊँचा उठ गया किन्तु रामगुप्त उससे मन ही मन बहुत जलने लगा और उसके प्राणों का ग्राहक बन गया । सुरक्षा के विचार से चन्द्रगुप्त ने पागल बनने का बहाना किया और किसी तरह अपने भाई रामगुप्त को मारने में सफल हुआ। अन्त में वह राजसिंहासन पर बैठा और अपने बड़े भाई की विधवा स्त्री से उसने विवाह कर लिया।" प्रसाद जी तथा मुंशी जी के ध्रुवस्वामिनी सम्बन्धी नाटकों तथा राखालबाबू के उपन्यास का पूरा ऐतिहासिक तथ्यान्वेषण होना चाहिए। राखाल बाबू के उपन्यास के सम्बन्ध में कहा गया है कि 'ध्रुवा की प्रत्येक कथा ऐतिहासिक न होते हुए भी इसकी प्रत्येक आख्यान वस्तु ऐतिहासिक है और इसमें अंकित समाज का चित्र इतिहास-सम्मत है। 'ध्रुवा' में हिन्दू शक्ति के पतन-काल का मार्मिक दृश्य अङ्कित हुआ है।"

---

* 'ध्रुवा' के छात्रोपयोगी संस्करण के आधार पर यह कथानक लिखा गया है।

‡ प्रकृतीनाम् आश्वासनाय।

७

क्या रामगुप्त और चन्द्रगुप्त परस्पर अनुरक्त थे ?

'जर्नल एशियाटिक' (अक्टूबर-दिसम्बर के अङ्क, ई० सन् १९२३) में डाक्टर सिलवाँ लेवी ने 'नाट्य-दर्पण' की हस्तलिखित प्रति में से विशाखदत्त रचित 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नामक नाटक के कुछ उद्धरण प्रकाशित करवाये थे जो यहाँ हिन्दी अनुवाद सहित उद्धृत किये जाते हैं :—

भिन्नस्य प्रस्तुतादन्यस्य त्रिगतमनेकार्थगतम् त्रिशब्दस्य अनेकार्थत्वात् तेनद्वयर्थमपि। यथा देवीचन्द्रगुप्ते द्वितीयेऽङ्के प्रकृतीनामाश्वासनाय शकस्य ध्रुवदेवीसंप्रदानेऽभ्युपगते राज्ञा रामगुप्तेन अरिवधनार्थं यियासुः प्रतिपन्नध्रुवदेवीनेपथ्यः कुमारचन्द्रगुप्तो विज्ञपयन्नुच्यते। यथा

राजा—उत्तिष्ठोत्तिष्ठ। न खल्वहं त्वां परित्यक्तुमुत्सहे।

प्रत्यग्रयौवनविभूषितमङ्गमेतद्
रूपश्रियं च तव यौवनयोग्यरूपाम्।
भक्तिं च मय्यनुपमामनुरुध्यमानो
देवीं त्यजामि बलवांस्त्वयि मेऽनुरागः॥

यह उद्धरण 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के द्वितीय अङ्क से लिया गया है। सेना अथवा प्रजा की घबराहट को दूर करने के लिए राजा रामगुप्त ने अपनी रानी ध्रुवदेवी को शकराज को देने की शर्त मंजूर कर ली है। रामगुप्त का छोटा भाई चन्द्रगुप्त इस बात को पसन्द नहीं करता, इसलिए वह स्वयं स्त्री-वेश बना कर शकराज के यहाँ जाने के लिए तैयार हो गया है। रानी ध्रुवदेवी भी वहाँ आ पहुँची है। राजा को स्त्रीवेशधारी चन्द्रगुप्त के साथ देखकर वह शंका में पड़ जाती है और छिप कर दोनों की बातचीत सुनती है। चन्द्रगुप्त रामगुप्त के पैरों पड़ कर कहता है कि रानी ध्रुवदेवी को शकराज के यहाँ न भेजकर मुझे ही भेज दीजिये जिस पर रामगुप्त उत्तर देता है—"उठो, उठो, तुम्हारा त्याग करने में मैं असमर्थ हूँ। यौवन से विभूषित तुम्हारा यह अंग, यौवन के अनुरूप तुम्हारा यह मोहक सौन्दर्य और मुझमें तुम्हारी अनुपम भक्ति—इन सबको देखते हुए मैं तुम्हारा त्याग नहीं कर सकता, ध्रुवदेवी को त्याग देता हूँ। तुम पर तो मेरा प्रबल अनुराग है, गाढी प्रीति है।

ध्रुवदेवी—(अन्यस्त्रीशङ्कया) जइ भक्तिं अवेक्खसि तदो मं मन्दभाइणिं ण परिच्चइस्ससि॥ यदि भक्तिमवेक्षसे ततो मां मन्दभागिनीं न परित्यक्ष्यसि।

ध्रुवदेवी (अन्य स्त्री की शंका से)—यदि आप भक्ति की ओर देखें तो मुझ मंदभागिनी का कभी त्याग नहीं करेंगे।

राजा—अपि च त्यजामि देवीं तृणवत् त्वदन्तरे

राजा—तुम्हारे लिए मैं देवी को तृण तुल्य छोड़ सकता हूँ।

ध्रुवदेवी—अहं वि जीविदं परिच्चअन्ती अज्जउत्तं पढमदरं जेव्व परिच्चइस्सं। अहमपि जीवितं परित्यजन्ती आर्यपुत्रं प्रथमतरमेव परित्यक्ष्यामि।

(ध्रुवदेवी अलग)—उसके पहले तो मैं ही प्राण-त्याग करके स्वामी को छोड़ दूँगी।

राजा—त्वया बिना राज्यमिदं हि निष्फलम्।

राजा—तुम्हारे बिना यह राज्य निष्फल है।

ध्रुवदेवी—मम वि संपदं णिफलो जीवलोओ सुपरिच्चअणीओ भविस्सदि। ममापि साम्प्रतं निष्फलो जीवलोकः सुपरित्यजनीयो भविष्यति।

ध्रुवदेवी—मेरे लिये भी अब यह मर्त्यलोक निष्फल होने के कारण आसानी से छोड़ा जा सकेगा।

राजा—दृढेति देवीं प्रति मे दयालुता।

राजा—देवी के प्रति मेरी दयालुता अब भी दृढ़ है।

ध्रुवदेवी—इअं अज्जउत्तस्स दयालुदा जं अणवरद्धो जणो अणुगदो एव्वं परिच्चईअदि इयमार्यपुत्रस्य दयालुता तदनपराद्धो जनोऽनुगत एवं परित्यज्यते।

(ध्रुवदेवी अलग)—जिसने कोई अपराध नहीं किया और जो आर्य पुत्र की अनुगामिनी है, उसका इस प्रकार परित्याग किया जा रहा है और फिर भी इसे 'दयालुता' के नाम से अभिहित किया जा रहा है ! क्या खूब !

राजा—परं त्वयि स्थितं स्नेहानिबन्धनं मनः।

राजा—किन्तु तुम पर मेरा अनन्य स्नेह है।

ध्रुवदेवी—अदो जेव्व मन्दभाआ परिच्चइज्जा। अतएव मन्दभाग्या परित्यज्ये।

ध्रुवदेवी—इसीलिए तो मुझ मन्दभागिनी का परित्याग किया जा रहा है।

राजा—त्वय्युपारोपितप्रेम्णा त्वदर्थं यशसा सह। परित्यक्ता मया देवी जनोऽयं जन एव मे !

राजा—तुम्हारे प्रेम के कारण अपनी कीर्ति के साथ-साथ मैंने महादेवी को छोड़ दिया।

ध्रुवदेवी (सूत्रधारिणीं प्रति) हज्जे, ईदसी अज्जउत्तस्स करुणाहीणदा। हज्जे, ईदृशी आर्यपुत्रस्य करुणाहीनता।

ध्रुवदेवी—अरी, इस हद तक आर्यपुत्र निष्ठुर हो गये हैं।

सूत्रधारिणी—देवि पडन्ति चन्दमण्डलादो चडुलीओ। किं, एत्थ कहिज्जदि। देवि, पतन्ति चन्द्रमण्डलाद् विद्युतः। किमत्र कथ्यते।

सूत्र—हे देवि! चन्द्रमण्डल से बिजलियाँ गिरती हैं। क्या कहा जाय!

राजा—देविवियोगदुःखार्तोस्त्वमस्मान् रमयिष्यसि।

राजा—देवी के वियोग के दुःख से हम दुखी होंगे किन्तु तुम्हारे पास रहने से हम उस दुःख को भूल जायँगे।

ध्रुवदेवी—विओअदुक्खं वि दे अकरुणस्स अत्थि। वियोगदुःखमपि तेऽकरुणस्यास्ति।

ध्रुवदेवी—तुझ जैसे निर्दय को क्या मेरे वियोग का दुःख भी होगा।

राजा—त्वद्दुःखमपनेतुं सा शतांशेनापि न क्षमा। इत्येतत् स्त्रीवेषधारिचंद्रगुप्तबोधनार्थमभिहितमपि विशेषणसाम्येन स्त्रीविषयं प्रतिपन्नमिति भिन्नार्थयोजकम्।

तुम्हारे वियोग का जो दुःख मुझे होगा, उसका शतांश भी ध्रुवदेवी दूर नहीं कर सकेगी।

ऊपर जो उद्धरण दिये गये हैं उनको पढ़कर प्रश्न उपस्थित होता है कि रामगुप्त और चन्द्रगुप्त क्या परस्पर एक दूसरे को चाहते थे? क्या उनमें मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे? उद्धरणों से तो ऐसा जान पड़ता है जैसे रामगुप्त का चन्द्रगुप्त के प्रति प्रगाढ़ अनुराग हो। किन्तु प्रसाद की 'ध्रुवस्वामिनी', राखाल बाबू की 'ध्रुवा' और मुन्शीजी की 'ध्रुवस्वामिनी देवी'—इन तीनों कृतियों को पढ़ लेने पर कहीं भी इस बात का आभास नहीं होता कि रामगुप्त और चन्द्रगुप्त में परस्पर अच्छे सम्बन्ध थे। ऊपर के अवतरणों पर विचार करते हुए श्री अल्टेकर कहते हैं कि हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि यहाँ श्लेष का प्रयोग किया गया है, इसलिए केवल इस अवतरण के आधार पर ही इस निष्कर्ष पर पहुँचना कि रामगुप्त और चन्द्रगुप्त परस्पर अनुरक्त थे, उन चुने हुए श्लिष्ट विशेषणों के नाटकीय प्रयोजन से अपनी अज्ञता प्रकट करना होगा। इन दोनों भाइयों में पहले चाहे जैसा सम्बन्ध रहा हो, शकराज की मृत्यु के बाद तो अवश्य ही परस्पर कटुता पैदा हो गई होगी। कटुता पैदा होने के दो कारण हो सकते हैं—(१) या तो रामगुप्त समझने लगा होगा कि चन्द्रगुप्त का असाधारण सामर्थ्य मेरे लिये खतरनाक है अथवा (२) चन्द्रगुप्त के हृदय में राज्यसिंहासन के लिए स्वभावतः ही महत्त्वाकांक्षा जगी होगी। जनता के मन में यह भी हो रहा हो कि संभवतः प्रतिशोध लेने के लिए शक जाति फिर आक्रमण करेगी और उस हालत में किसी योग्य शासक के बिना काम नहीं चलेगा। इसलिए जनता ने सब तरह से चन्द्रगुप्त का ही समर्थन किया होगा, रामगुप्त जैसे निर्बल शासक को पाकर मन्त्रि-वर्ग के भी आत्म सम्मान को ठेस पहुँचती होगी, इसलिए संभव है मन्त्रियों ने भी चन्द्रगुप्त को सिंहासन पर बैठाने के लिए पूरे प्रयत्न किये हों। कारण चाहे कुछ भी रहे हों किन्तु यह

निश्चित है कि दोनों भाई शीघ्र ही एक दूसरे के शत्रु बन बैठे थे । चन्द्रगुप्त को तो रामगुप्त से अपने प्राणों का भय हो गया था, इसलिए अपनी रक्षा के लिए अथवा रामगुप्त का वध करने के लिए उसने पागलपन का बहाना कर लिया था। इस सम्बन्ध में 'देवी चन्द्रगुप्तम्' का निम्नलिखित अंश पढ़िये—

"तथा हि देवीचन्द्रगुप्ते पञ्चमेऽङ्के एसो सियकर सत्थप्पणासिआसेसवेरितिमिरोहो णिअविहवएण चन्दो गअणं गहलङ्घिओ विसइ ॥

इयं (ध्रुवा)—स्वापायशंकिनः कृतकोन्मत्तस्य कुमारचन्द्रगुप्तस्य चन्द्रोदयवर्णनेन प्रवेशप्रतिपादिका ।

यह उद्धरण 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के पंचम अंक से लिया गया है । चौथे और पाँचवें अंक के अन्तराल में चन्द्रगुप्त ने शकराज का वध कर दिया है रंग-भूमि पर दिखलाई पड़ते हुए चन्द्रगुप्त का चतुराई से यहाँ उल्लेख हुआ है चन्द्र की अन्योक्ति को लेकर ध्रुवा के द्वारा इस प्रवेश का प्रतिपादन नाट्यकार ने करवाया है । ऊपर जिस गाथा छन्द का प्रयोग हुआ है उसके दो अर्थ हैं (१) चन्द्रमा से संबन्ध रखने वाला और (२) चन्द्रगुप्त से सम्बन्ध रखने वाला । संस्कृत छाया सहित दोनों अर्थ यहाँ दिये जाते हैं—

(संस्कृत)—एष सितकरसार्थप्रणाशिताशेष-वैरितिमिरौघः । निज विभवेन चन्द्रो गगनं लंघितग्रहो विशति ॥

(चन्द्र-पक्ष)—अपनी श्वेत किरणों के समूह से जिसने शत्रु रूप संपूर्ण अन्धकार के समूह को नष्ट कर दिया है, ग्रहों का उल्लंघन करके ऐसा चन्द्रमा अपने ऐश्वर्य के साथ आसमान में प्रवेश करता है ।

(चन्द्रगुप्त-पक्ष)—एष शितकरशस्त्रप्रणाशिताऽशेष-वैरितिमिरोधः । निज विभवेन चन्द्रो गगनं ग्रहलङ्घितो विशति ॥

अपने हाथ के तीक्ष्ण शस्त्र द्वारा जिसने महामत्स्य जैसे शत्रु का अवरोध नष्ट कर दिया है और जिसमें ग्रहकृत उन्माद व्याप्त है, ऐसा चन्द्रगुप्त अपने प्रभाव से आकाश में प्रकट होता है ।

ऊपर के उद्धरण "स्वापायशंकिनः कृतकोन्मत्तस्य" से स्पष्ट है कि अपने अनिष्ट की आशङ्का से चन्द्रगुप्त ने पागलपन का बहाना किया था । श्री के० एम० मुन्शी ने अपने नाटक 'ध्रुवस्वामिनी देवी' में चन्द्रगुप्त के छद्मोन्मामाद का बड़ा मार्मिक वर्णन किया है किन्तु प्रसादजी ने अपने नाटक में इस प्रसंग का समावेश नहीं किया है ।

'देवीचन्द्रगुप्तम्' के उद्धरणों से ऐसा लगता है कि रामगुप्त और चन्द्रगुप्त में पहले पहल तो भ्रातृसुलभ अनुराग रहा होगा, बाद में वह कटुता और घोर शत्रुता में परिणत हो गया जिसके परिणाम स्वरूप रामगुप्त की हत्या हुई और चन्द्रगुप्त को राज्य सिंहासन तथा ध्रुवदेवी प्राप्त हुई ।

८

मार्क्सवाद का त्रिकोण

भौतिकवादी सिद्धान्तों में द्वन्द्वात्मक भौतिकवादका सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यूनान में पहले 'डायलेक्टिक' शब्द का प्रयोग सत्य पर पहुँचने की उस पद्धति के लिए होता था जिसमें दो विरोधी दल वाद-विवाद और खण्डन-मण्डन द्वारा अपने-अपने पक्ष का समर्थन करते थे। किन्तु हीगल ने 'डायलेक्टिक' शब्द का प्रयोग उस पद्धति के लिए किया जिसके द्वारा उत्पत्ति, परिवर्तन और विकास के सिद्धान्त को भली भांति समझा जा सकता है। अण्डे की स्थितिपर विचार कीजिये। पहले हम उसे जिस हालत में देखते हैं वह हालत हमेशा नहीं रहेगी। उसी में परिवर्तन के बीज निहित हैं जो इसका रूपान्तर कर डालते हैं। इस रूपान्तर का अर्थ ध्वंस या विनाश नहीं है, इससे तो एक सजीव वस्तु सामने आ जाती है। १८वीं शताब्दी के अंत तक विश्व तथा सामाजिक संस्थाओं की कल्पना शाश्वत स्थिति के रूप में की जाती थी किन्तु फ्रांस की राज्य-क्रान्ति, औद्योगिक क्रान्ति तथा उत्पत्ति, स्थिति और लय की रूप-रेखा को स्पष्ट करने वाले वैज्ञानिक सिद्धान्तों की उद्भावना होने के बाद विचारों के क्षेत्र में भी बड़ा भारी परिवर्तन हुआ। सभी वस्तुओं को निरन्तर गतिशील एक प्रवाह के रूप में देखा जाने लगा। इसके लिए एक नूतन तर्क-पद्धति की आवश्यकता थी जो हीगल द्वारा पूरी हुई। सामान्य तर्क-पद्धति में तो द्वन्द्वों का बहिष्कार मिलता है। एक ही वस्तु है भी और नहीं भी है, इस प्रकार की कल्पना के लिए उसमें कोई स्थान नहीं है। 'क' की एक स्थिति हम देखते हैं। किन्तु 'क' क्षण-क्षण बदल रहा है, इसलिए उसका प्रतिस्थिति की हालत में आना अवश्यम्भावी है। इस दृष्टि से 'क' है भी और नहीं भी है। फिर इस प्रतिस्थिति में भी परिवर्तन होता है और समन्वय की स्थिति आती है। सामान्य तर्क-पद्धति में गतिशीलता नहीं है किन्तु हीगल की तर्क-पद्धति गतिशीलता को लेकर ही आगे बढ़ती है। इस चराचर सृष्टि में क्षण-क्षण पर परिवर्तन होता रहता है, यह कभी स्थिर नहीं रहती। यह वास्तविक अर्थ में जगत् है जिसका अर्थ ही है गतिशील। जमीन में बीज बोया जाता है किन्तु वह अपना कायापलट करके ही वृक्ष का रूप धारण करता है। विद्यार्थी-अवस्था में मार्क्स महान जर्मन दार्शनिक हीगल के दर्शन-शास्त्र से प्रभावित हुआ। उसने हीगल की तर्क-पद्धति को तो ग्रहण किया किन्तु उसके

निरपेक्ष ब्रह्म की कल्पना को उसने अमान्य ठहराया। 'दास कैपिटल' के दूसरे संस्करण में मार्क्स ने लिखा है, 'मेरी द्वन्द्वात्मक पद्धति विचारों की दृष्टि से हीगल की पद्धति से भिन्न ही नहीं है, वह उसके ठीक विपरीत है। हीगल की दृष्टि में तो विचार ही प्रधान है और यह वास्तव जगत् उसी का बाह्य रूप है। इसके विपरीत मेरी दृष्टि में बाह्य जगत् ही प्रमुख है। हीगल जैसे अपने सिरपर खड़ा हो और मार्क्स ने उसे जमीन पर ला खड़ा किया। मार्क्स के विचारानुसार आर्थिक कारणों द्वारा ही इतिहासकी व्याख्या की जा सकती है, निरपेक्ष ब्रह्म को लेकर नहीं।

मार्क्स के दर्शन का आधार

दूसरे जर्मन दार्शनिक फायरबाख (१८०४-१८७२) का भी मार्क्स पर प्रभाव पड़ा। हीगल के आदर्शवाद का खण्डन करने के लिए उसने फायरबाख के भौतिकवाद से सहायता ली। "चेतना और प्रकृति दोनों में से पहले किसका अस्तित्व था, यह दर्शनशास्त्र का बड़ा विवादास्पद प्रश्न है। फायरबाख ने हीगल का खण्डन करते हुए बतलाया कि किसी वस्तु के बिना ज्ञान या बोध असंभव है। किसी वस्तु-विशेष की अनुभूति हमारी इन्द्रियां जिस रूप में करती हैं वही उसका बोध हुआ। पर जिस प्रकार दर्पण में आप ही आप प्रतिबिंब नहीं आ सकता, उसी प्रकार किसी वस्तु के बिना बोध आप ही आप पैदा नहीं हो सकता।" सृष्टि-विकास की परम्परा में सबसे पहला स्थान प्रकृति (मैटर) का है, और प्रकृति जड़भूत के अतिरिक्त और कुछ नहीं। उसने प्रतिपादित किया कि परमात्मा ने मनुष्य को नहीं बनाया, मनुष्य ने ही परमात्मा की सृष्टि की है, और मनुष्य भी प्राकृतिक विकास की एक शृंखला ही तो है। किन्तु मार्क्स और फायरबाख के दृष्टि-भेद को भी भलीभांति समझ लेना चाहिये। मार्क्स मनुष्य को मात्र यन्त्र मानकर आगे नहीं बढ़ता। क्योंकि मनुष्य में चेतना भी तो है और इस चेतना का निरूपण ऐतिहासिक और आर्थिक परिस्थितियों को दृष्टि में रख कर ही किया जा सकता है। मनुष्य केवल वातावरण का परिणाम है, यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि वातावरण भी तो मनुष्यों द्वारा बदला जा सकता है। हीगल और फायरबाख दोनों ने ही ऐतिहासिक परिस्थितियों की अवहेलना की जिससे उनकी व्याख्या में त्रुटियां रह गयीं। हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति में भौतिकवाद की कमी थी, फायरबाख के प्रकृतिवाद में द्वन्द्वात्मक पद्धति का अभाव था। मार्क्स ने दोनों को मिलाकर एक ऐसा दर्शन प्रस्तुत किया जिसका आधार तो भौतिकवाद है और निरूपण की प्रणाली द्वन्द्वात्मक है।

श्रेणी-संघर्ष

हीगल और फायरबाख दोनों को मिलाने पर भी वर्ग-संघर्ष का विषय अछूना ही रह जाता है। श्रेणी-युद्ध की सबसे पहली व्याख्या चार्ल्स हाल नामक अंग्रेजी डाक्टर (१७४०-१८२०) ने अपनी किताब 'इफेक्ट्स आव सिविलाइजेशन' में की थी। उक्त लेखक के मतानुसार "आदिम मानव समाज में न संपत्ति थी, न शासन ही संघटित था। सभ्यता के विकास के साथ इन संस्थाओं का जन्म हुआ और उन्होंने समाज को शोषित और शोषक— इन दो वर्गों में बांट दिया। जिनके हाथ में आर्थिक सत्ता थी उन्हीं के हाथ में राजनीतिक शक्ति भी थी।" डाक्टर साहब का विश्वास था कि "एक न एक दिन गरीब इस शोषण का अन्त करने का प्रयत्न करेंगे। इसके जवाब में अमीर दमन से काम लेंगे और इस श्रेणी-युद्ध को दबाने के लिए सैनिक शासन स्थापित किया जायगा। पूंजीपति अपने आर्थिक स्वार्थों के लिए लड़ाई की आग भड़काते हैं। दूसरे देशों का कच्चा माल या बाजार हथियाने के लिए विभिन्न देशों के पूंजीपति लड़ाई मोल लेते हैं। इन लड़ाइयों में गरीबों को कोई लाभ नहीं होता; सारा भार गरीबों पर पड़ता है। अगर देश की अर्थनीति और शासन-सूत्र गरीबों के हाथ में हो तो कभी खून-खराबी न हो।

ध्यान देने की बात यह है कि मार्क्स से भी बहुत पहले चार्ल्स हाल ने श्रेणी संघर्ष की व्याख्या की थी जिसपर आगे चलकर मार्क्स ने बहुत कुछ लिखा और शोषितों को मुक्ति का मार्ग दिखलाया। हीगल, फायरबाख और चार्ल्स हाल को मिलाने से मार्क्सवाद का त्रिकोण पूरा हो जाता है। किन्तु इससे यह भ्रम न होना चाहिये कि मार्क्स में अपना कुछ नहीं है, केवल हीगल, फायरबाख और चार्ल्स हालका सम्मिश्रण है। मार्क्स ने, जैसा ऊपर कहा गया है, हीगल की द्वन्द्वात्मक तर्क-पद्धति तो ग्रहण की किन्तु उसके आदर्शवाद को छोड़ दिया, फायरबाख के भौतिकवाद से वह प्रभावित तो हुआ किन्तु उसने उसका क्षेत्र व्यापक बना दिया, हाल की तरह वर्ग-संघर्ष की व्याख्या ही नहीं की, गरीबों की मुक्ति का पथ भी उसने प्रदर्शित किया। न जाने और कितने विचारकों का प्रभाव मार्क्स पर पड़ा होगा लेकिन उसने जहां से जो कुछ लिया सबको मिलाकर इस तरह का रसायन तैयार किया जिसकी प्रभावोत्पादकता में आज सन्देह की गुंजाइश नहीं रह जाती। उसमें त्रुटियां भले ही रही हों लेकिन फिर भी वह अपनी महत्ता में अप्रतिम है।

९

छायावाद की चालढाल

जिन दिनों छायावाद का आंदोलन चला था उन दिनों इस काव्यधारा की रेखाएं वट-वृक्ष की जड़ों की तरह उलझी हुई थीं, तर्कजाल की तरह बिखरी हुई थीं। दूसरी बात यह है कि छायावाद को सम्पूर्ण रूप में देखना उस समय सम्भव भी न था। उस समय छायावादी काव्य अपने निर्माण की प्रक्रिया में गतिशील था। यही कारण है कि उस युग में पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी और पण्डित पद्मसिंह शर्मा जैसे दिग्गज विद्वानों ने भी छायावाद के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किये थे, वे भी आज मान्य नहीं हैं। किन्तु आज छायावाद के सम्पूर्ण काव्य-ग्रन्थ हमारे सामने हैं जिनके आधार पर सम्यक् रूप से छायावाद सम्बन्धी सैद्धान्तिक विवेचन किया जा सकता है।

छायावाद की चाल-ढाल का पता लगाने के लिए छायावाद की एक काव्य-पुरुष के रूप में कल्पना कीजिये। जिस प्रकार कोई पुरुष अपनी चाल-ढाल से पहचान लिया जाता है, उसी प्रकार क्या कोई ऐसे व्यावर्तक संकेत हैं जिनसे इस काव्य-पुरुष की चाल-ढाल का पता चल सकता है? उदाहरणार्थ नीचे लिखी कुछ पंक्तियों पर विचार कीजिये—

(१) जनपद की वधुएं मेघको नेत्रों से पी रही हैं। (जनपदवधूलोचनैः पीयमानः)।

(२) 'दुखी दीनता दुखियनके दुख' [विनय पत्रिका]।

अर्थात् दीनता और दुखियों के दुःख आज दुःखी हो रहे हैं।

(३) मेरा रोदन मचल रहा है, कहता है—कुछ गाऊँ।

उधर गान कहता है रोना आवे तो मैं आऊं। (साकेत)

अर्थात् जहां सच्चा विषाद है, वहीं प्रकृत संगीत फूटता है। वेदना का राग बड़ा सुरीला होता है।

(४) उच्छ्वास और आंसू में विश्राम थका सोता है। (प्रसाद)

अर्थात् उच्छ्वास और आंसुओं से मनुष्य के दिलको राहत मिलती है।

जानबूझ कर ही अधिक उदाहरण नहीं दिये जा रहे हैं। उक्त चारों उदाहरणों में अभिव्यक्ति का वैचित्र्य देखने को मिलता है और इस वैचित्र्य का आधार है लाक्षणिक वक्रता। प्रसाद ने अपने 'यथार्थवाद और छायावाद,'

शीर्षक लेख में बतलाया है कि छायावाद' आधुनिक कवियों का ही एकाधिकार नहीं है, संस्कृत के प्राचीन कवियों की रचनाओं में भी स्थान-स्थान पर छायावादी अभिव्यक्ति के दर्शन होते हैं। ऊपर जो पहला उदाहरण कालिदास के मेघदूत से लिया गया है, वह प्रसाद जी के उक्त लेख से ही अवतरित है। तुलसीदास की विनय-पत्रिका से जो पंक्ति मैंने उद्धृत की है, वह भी निश्चय ही छायावादी शैली का स्मरण दिलाती है। गुप्त जी तो हिन्दी के प्रतिनिधि कवि रहे हैं, इसलिए यत्र-तत्र उनकी कृतियों में यदि छायावादियों की सी अभिव्यक्ति हो गयी है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? चौथा उदाहरण प्रसाद जी के 'आंसू' से दिया गया है जिसके सम्बन्ध में विशेष कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। पन्त और महादेवी की रचनाओं से भी अनायास राशि-राशि उदाहरण एकत्रित किये जा सकते हैं।

किन्तु यहां पर यह समझ लेना आवश्यक है कि किसी कवि की कविताओं में यदि छायावादी शैली के इक्के-दुक्के उदाहरण मिल जाते हैं तो उन कतिपय उदाहरणों के बल पर ही हम उस कवि को छायावादी कवि नहीं कह सकते। कालिदास, तुलसीदास तथा मैथिलीशरण अपने सम्पूर्ण रूप में छायावादी नहीं; पन्त और प्रसाद के काव्य-पुरुष की जो चाल-ढाल है, वह इनकी नहीं। बोधपूर्वक अथवा अबोधपूर्वक हम जैसे कभी-कभी किसी दूसरे पुरुष की चाल-ढाल का अनुसरण करने लगते हैं, वैसे ही कभी-कभी शिष्टवादी कवि भी स्वच्छन्दतावादी कवि के पद-चिह्नों पर चलता हुआ जान पड़ता है। बिहारी-सतसई में एक स्थान पर कहा गया है 'छाहौं चाहति छांह' अर्थात् ग्रीष्म की प्रखरता को देखकर स्वयं छाया भी छाया चाहने लगती है। इस पंक्ति में ग्रीष्म-ताप की दाहकता व्यंजित है। आधुनिक छायावादी कवि भी इसी प्रकार ग्रीष्म का वर्णन कर सकता था।

तो क्या छायावादी काव्य-पुरुष की चाल-ढाल लाक्षणिक वक्रता और ध्वन्यात्मकता है ? किन्तु संस्कृत के प्राचीन काव्यों में भी तो लाक्षणिकता और ध्वन्यात्मकता की कमी न थी। फिर संस्कृत के पुराने काव्यों को हम छायावादी काव्य क्यों नहीं कह सकते ?

ऐसा लगता है, जैसे छायावादी युग नव्य लक्षणाओं का युग था। संस्कृत के शायद ही किसी कवि ने इस प्रकार की पक्ति लिखी होगी—

'अभिलाषाओं की करवट, फिर सुप्त व्यथाका जगना।' संस्कृत में श्रीहर्ष आदि कवियों ने जहाँ अलंकार के क्षेत्र में विविध भंगिमाएं दिखलाई हैं, वैसे ही छायावादी युग के कवियों ने नव्य लक्षणाओं और व्यंजनाओं के प्रयोग के द्वारा उस जमाने के पाठकों को विस्मय-विमुग्ध कर दिया था।

स्वर्गीय प्रसाद जी ने यद्यपि अपने लेख में यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि छायावाद नितान्त भारतीय वस्तु थी किंतु हमें यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि हिन्दी के अधिकांश छायावादी कवि पाश्चात्य रोमांटिक कवियों के काव्यों से अवश्य प्रभावित हुए थे, प्रसाद पर चाहे प्रत्यक्ष रूप से उनका प्रभाव न पड़ा हो। आज तो विश्वविद्यालयों में छायावादी काव्य का बड़ा सहानु-भूतिपूर्ण अध्ययन होने लगा है लेकिन द्विवेदी-युग में छायावादी कविताओं के लिए तत्कालीन साहित्यिक महारथियों के मन में कोई आदर की भावना नहीं थी, न उन कविताओं को समझने के लिए ही कोई विशेष प्रयत्न किया जाता था। कुत्ते को मार देने के लिए जैसे उसको पागल कह देना काफी है, उसी प्रकार किसी काव्य को असाधु ठहराने के लिए उसको छायावादी कह देना पर्याप्त समझा जाता था। उस जमाने की पत्रिकाओं में कटाक्ष-काव्य अथवा व्यंग्योक्तियों के रूप में इस प्रकार की पंक्तियां छपा करती थीं—

किसने छायावाद चलाया,
किसकी है यह माया ?
हिन्दी भाषा में यह न्यारा,
वाद कहाँ से आया ?

'न्यारा वाद' से कमसे कम इतना तो स्पष्ट है कि उस जमाने के पाठकों को छायावाद एक अजीब-सी वस्तु जान पड़ी थी, जिसके स्वरूप को देखकर अनेक प्रश्नवाचक चिह्न एक साथ पाठकों के सामने आ उपस्थित होते थे। मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय, प्रतीक-पद्धति, मूर्त उपमेयों के लिए अमूर्त उपमानों का प्रयोग और अप्रस्तुत-विधान आदि छायावाद की चाल-ढाल के ही रूप हैं। यहाँ यह कह देना भी आवश्यक है कि इस चालढाल में एक प्रकार की मार्दवता, माधुर्य और सुन्दरता भी है जो चित्त को उल्लसित करती है। सौंदर्य का स्वर मुखरित करता हुआ यह छायावादी काव्य-पुरुष अपनी चाल-ढाल में अनुपम था, निराला था, रमणीय और भव्य था। इसमें यदि अपनी गहरी त्रुटियां न होतीं, लोक-जीवन का साहचर्य लेकर यदि यह चला होता तो आज भी यह अपनी चाल-ढाल न खो बैठता। आज तो कुछ बाल की खाल निकालने वाले छायावादी काव्य-पुरुष की शव-परीक्षा कर रहे हैं किन्तु एक युग था जब इसने अपनी विलक्षण भंगिमाओं से पाठकों को चमत्कृत कर दिया था।

१०

प्रसाद जी का प्रसादत्व और पलायनवाद

यदि कोई ऐसा व्यक्ति हो जो अपने साध्य पर पहुँच चुका हो, जहाँ जीवन की विषम समस्याओं के साथ संघर्ष करने के लिए कोई प्रेरणा अवशिष्ट न रह गयी हो, वहां जीवन बहुत ही नीरस हो जायगा। यदि हम ज्ञान के उच्चतम शिखर पर पहुँच चुके हों तो फिर हम किसी प्रकार के विचार-विमर्शों में न लगेंगे, न किसी प्रकार के अन्वेषण अथवा अनुसन्धान में ही प्रवृत्त होंगे, विज्ञान का अन्त हो जायगा, समस्त सृष्टि ही एक कहानी की आवृत्तिमात्र के अतिरिक्त और कुछ न रहेगी। धर्म और कला, जिनके प्रयोगात्मक अनुभवों से हमें आनन्द की उपलब्धि होती है तब अर्थहीन व्यापार-मात्र रह जायेंगे। संघर्षों से छुटकारा पाने में आनन्द नहीं है, आनन्द है संघर्षों पर विजय प्राप्त करने में। यदि कोई मनुष्य समाज से अलग होकर एकान्तवास करने लगे तो वह बहुत सी सामाजिक जिम्मेदारियों से तो बच जायगा, किन्तु उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए जिस सामाजिक साहचर्य की आवश्यकता उसे है उससे वह वंचित ही रह जायगा। मानसिक सन्तुलन के अभाव का कारण हमारी अयोग्यता उतनी नहीं है जितना जीवन के प्रति हमारा ग़लत दृष्टिकोण। भय और क्रोध दो ऐसे मनोयोग हैं जो हमारे मानसिक सन्तुलन को आघात पहुँचाते हैं। सुरक्षा की भावना को जब क्षति पहुँचती है तभी भय उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ भूत के भय पर विचार कीजिये। आत्मविश्वास की कमी के कारण भूत का कल्पित भय भी हमारे स्नायु-दौर्बल्य का कारण बन जाता है। उन्माद तथा हिस्टीरिया के रोग भी मानसिक अस्वास्थ्य के ही द्योतक हैं। मनुष्य के लिए यह आवश्यक है कि वह मानसिक प्रसन्नता की आदत डाले। इसे ही गीताकार ने 'प्रसाद' नाम से अभिहित किया है—

> प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
> प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

अर्थात् चित्त प्रसन्न रहने से उसके सब दुःख दूर हो जाते हैं। जिसे प्रसन्नता प्राप्त हो जाती है उसकी बुद्धि तुरन्त ही स्थिर हो जाती है। इस प्रसाद-प्राप्ति का उपाय भी गीताकार के शब्दों में ही सुनिये—

> रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
> आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

अर्थात् जिसका मन अपने अधिकार में है और जिसकी इन्द्रियां राग द्वेष रहित होकर उसके वश में रहती हैं, वह मनुष्य इन्द्रियों का व्यापार चलाते हुए भी चित्त की प्रसन्नता प्राप्त करता है।

स्वर्गीय प्रसाद जी ने जो अपना उपनाम 'प्रसाद' रखा था, उसमें उनके जीवन का समस्त दर्शन समाया हुआ है। शैव-दर्शन के आनन्दवाद ने उनकी विचारधारा को बहुत अधिक प्रभावित किया था। उनके सर्व श्रेष्ठ महाकाव्य 'कामायनी' की तो परिणति ही 'आनन्द' में हुई है। अपने काव्य का उपसंहार करते हुए महाकवि प्रसाद कह गये हैं—

'समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था;
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था।'

समरसता में ही साकार सौन्दर्य के दर्शन होते हैं, समरसता में ही चैतन्य का विलास है तथा समरसता में ही अखण्ड-आनन्द की स्थिति है। सामरस्य का यह शैव-सिद्धान्त ही 'कामायनी' का विराट सन्देश है जिसका उल्लेख ऊपर की पंक्तियों में हुआ है। इस दार्शनिक सिद्धान्त के अध्यात्म-पक्ष को यदि हम थोड़ी देरके लिए छोड़ भी दें तो इसका व्यावहारिक रूप भी हमें बड़ा आकर्षक प्रतीत होता है। लौकिक अनुभव और ऐतिहासिक वृत्त पुकार-पुकार कर कह रहे हैं कि समरसता के बिना कहीं सुख नहीं मिल सकता। क्लेओपेट्रा के प्रेम में निमग्न होकर-एक स्त्री के लिए-जूलियस-सीजर अपने समस्त साम्राज्य को भूल गया। बादशाह डेविड के लिए प्रसिद्ध है कि वह कुछ समय क्रूर दिखलाई पड़ता—एक क्षण परमात्मा की उपासना करता और दूसरे क्षण पापाचार में प्रवृत्त हो जाता, फिर पश्चात्ताप की कविताएं लिखता और कुछ समय बाद फिर कुत्सित पथ का पथिक बन जाता। सोलन (जो ज्ञान का अवतार ही समझा जाता है) के लिए कहा जाता है कि वह अपने पुत्र के लिए कुछ भी नहीं कर सका। प्रवाद प्रचलित है कि चीन के प्रसिद्ध दार्शनिक कन्फ्यूसियस से मिलने के लिए कोई सज्जन आये। कन्फ्यूसियस ने कहलवा दिया कि वे घरपर नहीं हैं किन्तु ज्यों ही उक्त सज्जन घर के दरवाजे से बाहर निकले, दार्शनिक ने अपने ऊपर के कमरे में इस उद्देश्य से गाना शुरू कर दिया कि आगन्तुक सज्जन को इस बात का पता चल जाय कि वे घरपर ही हैं। मिल्टन के सम्बन्ध में तो यह मानी हुई बात है कि अपनी सतरह वर्षीया पत्नी के साथ जब उनका निर्वाह नहीं हो सका तो तलाक पर उन्होंने एक पुस्तिका ही लिख दी। फिर जब इसका विरोध हुआ तो आपने उक्ति स्वा-

तन्त्र्य की वकालत करना शुरू कर दिया। चीन के सबसे बड़े कवि ल्यू यूनमिंग के लिए कहा जाता है कि वे मदिरा के बड़े शौकीन थे। वे एकान्त-सेवी थे और दर्शकों से मिलना-जुलना पसन्द नहीं करते थे, किन्तु जहाँ शराब देख लेते, वहाँ बिना बुलाये ही पहुँच जाते थे। इस बात की भी उन्हें परवाह न थी कि मेजबान से उनका कोई परिचय है अथवा नहीं। आप स्वयं कभी मेहमानों को निमन्त्रित करते तो सबसे पहले पीने के लिए बैठ जाते थे और पी चुकने पर कहा करते 'मैं तो मदिरा-पान कर चुका और निद्रा देवी के वशिभूत हो रहा हूं; अब आप लोग अपने-अपने घर जा सकते हैं।" इस प्रकार के अनेक उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं। दूर जाने की आवश्यकता ही क्या है, आज के इस वैज्ञानिक युग में बौद्धिक अनिवाद और हृदय-पक्ष के सापेक्ष अभाव के कारण जो विनाश का दृश्य उपस्थित है, वह किसी से छिपा नहीं है। वस्तुतः समरस्य में ही उद्धार का मर्म छिपा हुआ है। प्रसादत्व अथवा चित्त की आनन्द-मयी अवस्था भी समरस्य के बिना संभव नहीं।

शैवागम सम्प्रदायमें शिवको लोकातीत, गुणातीत देव के प्रशस्ततम रूप में ग्रहण किया गया है। कालकूट विषका पान करके भी शिव की प्रसाद-मयी वृत्ति ज्यों की त्यों बनी रहती है। शिव की यह विशेषता अन्य सम्प्रदायों में कम पायी जाती है। प्रसाद जी के व्यक्तित्व में भी इस निर्लेप भाव की प्रधानता थी यहाँ तक कि अपने ऐतिहासिक नाटकों के पात्रों को भी कहीं-कहीं वे अपना यह निर्लेप-भाव दे गये हैं।

अपरोक्ष अनुभूति और समरसता शैव-दर्शनकी विशेषताएं हैं जिसका कामायनी में यथास्थान उल्लेख हुआ है। प्रसाद जी 'कामायनी' में शैव सामरस्य को लौकिक विचारों के साथ अतिवादी धाराओं के विरोधके लिए लाये हैं। सुख और दुःख तथा अधिकार और अधिकारी का सामंजस्य प्रसाद जी ने माना है। इस महाकाव्य के अंतिम तीन सर्ग दार्शनिक हैं जिनमें शैवागम दर्शन से विशेष सहायता ली गयी है। 'दर्शन' में कथा का भी कुछ अंश है, मानस के निर्मल स्वरूप का यहां दर्शन है, यह भी प्रतीकात्मक है। हिमालय आदि मानव-जीवन के गौरव के प्रतिपादक हैं। 'रहस्य' नामक सर्ग में समरसता का सिद्धांत है जिसके अनुसार कर्म भावना और ज्ञान के समन्वय के बिना जीवन में विश्रृंखलता अवश्यंभावी है जैसा कि निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट है:—

'यही त्रिपुर है देखा तुमने
तीन बिंदु ज्योतिर्मय इतने,
अपने केन्द्र बने दुख-सुख में
भिन्न हुए हैं ये सब कितने!

ज्ञानदूर कुछ, क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मनकी
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की।'

सामरस्य की यह विवेचना व्यवहारिकता को लिए हुए है, मानव-जीवन से संयोजित है। मानव-जीवन का परम लक्ष्य है आनन्द, लेकिन इस लक्ष्य की पूर्ति बिना समरसता के संभव नहीं। सुख-दुख से ऊपर उठने की अनुभूति आनन्द का मूल है। शिव का ताण्डव उस अपरोक्ष अनुभूति का संकेत है। ताण्डव-नृत्य सृष्टि के अखण्ड आनन्द का प्रतीक है; विरोधी वृत्तियों का यहाँ समाहार हो जाता है। शैव-सिद्धांत और आनन्दवाद की चर्चा करते समय हमें प्रसाद जी के अन्वर्थ नामको नहीं भूल जाना चाहिए।

हिन्दी के किसी आलोचक ने कल्पना-शील एवं पलायनवादी रोमांटिक साहित्य को छायावादी नाम से अभिहित किया है, तथा छायावाद के विरुद्ध समाजवाद के राजनैतिक सिद्धांत को लेकर जन-चेतना को जाग्रत करने वाली जो साहित्यिक प्रतिक्रिया हुई उसे प्रगतिवाद की संज्ञा दी है। हिन्दी साहित्य में जब से प्रगतिवाद की विशेष चर्चा होने लगी है तब से 'पलायनवाद' की भी सूक्ष्म मीमांसा का प्रयास होता रहा है। 'ले चल मुझे भुलावा देकर...तज कोलाहल की अवनी रे' जैसी पंक्तियां न जाने कितनी बार पलायनवादी मनोवृत्ति के निदर्शन के रूप में रखी जा चुकी है। इस मनोवृत्ति का विरोध करता हुआ आज का कवि कहता है—

"मुझ से न स्वर्ग की बात करो,
प्रिय लगता है संसार मुझे।
मैं इसी भूमि पर बलिहारी,
यह भी करती है प्यार मुझे॥"

दिनकर ने तो अपने-निबन्ध का नाम ही 'मिट्टी की ओर' रखा है। किन्तु इस सम्बन्ध में एक बात विचारणीय है। यह तो ठीक है कि किसी कवि की कुछ पंक्तियाँ पलायनवादी मनोवृत्ति के उदाहरण रूप रखी जा सकती हैं किन्तु उन पंक्तियों को लेकर ही किसी कवि को पलायनवादी करार दे देना क्या उचित है? हिन्दी के कुछ आलोचक 'लहर' की उन पंक्तियों को लेकर प्रसाद जी को पलायनवादी बतलाया करते हैं। प्रश्न यह है कि क्या प्रसाद पलायनवादी थे? कवि की सम्पूर्ण कृतियों के आधार पर ही इस प्रकार के प्रश्न का

उत्तर दिया जा सकता है । यह तो निश्चित है कि किसी कवि की कृतियों में इधर-उधर बिखरी हुई कुछ पंक्तियों को लेकर उसे पलायनवादी नहीं ठहराया जा सकता। ऐसी पंक्तियां रवीन्द्रनाथ में भी मिल जाती हैं जिनमें पलायनवादी मनोवृत्ति का निदर्शन है, ऐसी पंक्तियां वेदों में भी मिल जाती हैं जो पलायनवादी मनोवृत्ति का परिचय देती हैं—तो क्या हम रवीन्द्र को पलायनवादी कवि और वेदों को पलायनवादी काव्य कह सकते हैं ? किसी भी व्यक्ति की मनोदशा सर्वदा एकरस नहीं रहती । यही कवि के सम्बन्ध में भी कहा जा सलता है : उसके जीवन में भी ऐसे क्षण आ सकते हैं जब वह कोलाहल की अवनी छोड़ कर उस निर्जन में जाना चाहता है जहां सागर-लहरी अम्बर के कानों में निश्छल प्रेम-कथा कहती हो । किन्तु यह तो एक मनोदशा का ही चित्रण हुआ, कवि की संपूर्ण कृतियों के मूल्यांकन का आधार केवल इस मनोदशा को नहीं बनाया जा सकता । प्रसाद के काव्य में पलायन का स्वर उतना नहीं है जितना जीवन-संघर्ष में प्रवृत्त होकर मानवता को विजयिनी बनाने का प्रयास है । 'कामायनी' में जीवन से पलायन करने की इच्छा रखने वाले मनु को श्रद्धा के मुख से कहलवाया गया है—

कहा आगन्तुक ने सस्नेह--
अरे तुम इतने हुये अधीर
हार बैठे जीवन का दांव
जीतते मर कर जिसको वीर ।
प्रकृति के यौवन का शृङ्गार
करेंगे कभी न बासी फूल ।
× × ×
दु:ख की पिछली रजनी बीच।
विकसता सुख का नवल प्रभात ॥

इस प्रकार की पंक्तियों से जीवन संघर्ष में जूझने की प्रेरणा मिली है, न कि उससे पलायन करने की । पलायनवाद सामाजिक उत्तरदायित्वहीनता का दूसरा नाम है और निश्चय ही प्रसाद जी का सम्पूर्ण काव्य सामाजिक उत्तरदायित्व हीनता सिखलाने वाला नहीं । प्रसाद को सामयिक परिस्थितियों से असंतोष अवश्य था किन्तु इसी कारण न उनको और न किसी भी दूसरे रोमांटिक कवि को पलायनवादी कहा जा सकता है । प्रत्येक रोमांटिक कवि को अपने जीवन की सामयिक परिस्थितियों से असंतोष रहा है किन्तु असंतोष तो जीवन का लक्षण है, जीवन से पलायन नहीं । हाँ, यह अवश्य है कि उस असंतोष के कारण यदि कोई जीवन-संघर्ष से बचकर निवृत्ति का आश्रय ले तो हम उसे निश्चय ही पलायनवादी कहेंगे । कुछ लोगों का कहना है कि 'कामायनी' में हिमालय पर ले जाकर मनु को जो दर्शन कराया गया है वह

पलायनवाद नहीं तो और क्या है ? यहां देखने की बात यह है कि यह तो तब हुआ है जब मनु इसके पहिले अत्यधिक जीवन-संघर्ष में आ चुके हैं। 'कामायनी' में एक स्थान पर मनु के मुख से कहलाया गया है:—

"सोच रहे थे जीवन सुख है,
ना, यह विकट पहेली है।
भाग अरे मनु इन्द्रजाल से,
कितनी व्यथा न झेली है ॥"

किन्तु यह तो एक मनोदशा का चित्रण ही है न; हमारे जीवन में भी इस तरह के अवसर आते हैं। हम संघर्ष से क्लान्त होकर इस प्रकार के उद्गार प्रकट कर दिया करते हैं और फिर जीवन संघर्ष में प्रवृत्त हो जाते हैं। ऐसे उद्गारों से थोड़े देर के लिए मन हल्का हो जाता है।

यह सही है कि प्रसाद प्राचीन भारतीय संस्कृति के अनन्य भक्त थे और उन्होंने अपनी कला कृतियों द्वारा स्वर्णिम अतीत के दर्शन कराये हैं। अतीत के प्रति पलायन कह कर इस प्रवृत्ति को हेय अथवा त्याज्य ठहराना काल की अविच्छिन्न शृङ्खला को न समझना है। अतीत तो वर्तमान की एक ऐसी अविभाज्य कड़ी है जिसे काल की शृङ्खला से अलग नहीं किया जा सकता। मानव के उच्च आदर्शों का स्मरण दिलाने और उन्हें वर्तमान जीवन में चरितार्थ करने के लिए प्रसाद ने अतीत का आश्रय लिया है किन्तु इसी कारण तो प्रसाद को पलायनवादी नहीं कहा जा सकता क्योंकि मानववाद किसी प्रकार पलायनवाद नहीं है।

प्रसाद के काव्यों में ही नहीं, उनके नाटकों द्वारा भी जीवन-संघर्ष में प्रवृत्त होने की प्रेरणा अनेक स्थलों पर मिलती है। 'ध्रुवस्वामिनी' में मन्दाकिनी के इस गीत में उद्बोधन का कितना प्रबल स्वर है—

"पीड़ा की धूल उड़ाता-सा,
बाधाओं को ठुकराता - सा
कष्टों पर कुछ मुसक्याता-सा,
ऊपर नीचे सब झेल चले
खिलते हों क्षत के फूल वहां,
बन व्यथा तमिस्रा के तारे
पद-पद पर तांडव नर्तन हो,
स्वर सप्तक होवें लय सारे
विचलित हों अचल न मौन रहे,
निष्ठुर शृङ्गार उतरता हो
अपनी ज्वाला को आप पिये,
नव नील कण्ठ की छाप लिए

विश्राम शान्ति को शाप दिये,
ऊपर नीचे सब झेल चले ।"

रवीन्द्रनाथ ने भी एक स्थान पर ऐसी ही कामना की है—

"रक्षा करो दुखों से मेरी
नहीं प्रार्थना,
दुःखों का मैं करूं न भय!
मेरा तुम परित्राण करो
यह नहीं प्रार्थना,
सहने की हो शक्ति न क्षय...." (हिन्दी अनुवाद)

अपने नाटक में अतीत के कथानक का आश्रय लेते हुए भी प्रसाद सामयिक परिस्थितियों को नहीं भूले हैं और सच तो यह है कि कोई भी सच्चा कवि अपने समय को नहीं भूल सकता।

सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक जुंग ने चरित्रों के दो वर्ग निर्धारित किये हैं (१) अन्तर्मुखीवत्तिवाले और (२) बहिर्मुखीवृत्ति वाले। कुछ लोग प्रसाद को उनकी अन्तर्मुखीवृत्ति के कारण ही पलायनवादी ठहराया करते हैं। उन लोगों का कहना है कि जिस व्यक्ति की वृत्तियां अन्तर्मुखी होती हैं वह प्रत्यक्ष यथार्थ को भुला कर आदर्शों में शरण खोजता है। किन्तु न तो केवल अन्तर्मुखी होने के कारण और न आदर्शोंकी सृष्टि करने के कारण ही किसी को पलायनवादी कहा जा सकता है: अन्तर्मुख और आदर्शवादी सदा पलायनवादी नहीं होते। हां, इस प्रसंग में हम एक बात अवश्य कहेंगे कि पलायनवादी के रूप में प्रसाद चाहे इतने प्रसिद्ध न रहे हों, किन्तु नियतिवाद के रूप में उन्होंने विशेष ख्याति प्राप्त की है पर इस पर भी यदि गहराई से विचार किया जाय तो जान पड़ेगा कि नियतिवाद भी प्रसाद के स्वभाव की अभिन्न विशेषता भले ही रही हो, नियतिवाद को भी उन्होंने सिद्धांत के रूप में ग्रहण नहीं किया है। स्वभाव से पलायनवादी होते हुए भी बौद्धिक दृष्टि से जिस प्रकार पंत जी पलायनवादी नहीं कहे जा सकते, उसी प्रकार स्वभाव से नियतिवादी होते हुए भी प्रसाद सैद्धांतिक दृष्टि से नियतिवादी नहीं थे। दुःखदग्ध जगत और आनन्दपूर्ण स्वर्ग के एकत्र मिलन को प्रसाद ने साहित्य का नाम दिया है। प्रसाद की कलाकृतियों में जगत और स्वर्ग दोनों की झांकियां हैं। विश्व के बड़े-बड़े कवियों में यही देखने को मिलता है।

यहाँ पर एक विचारणीय प्रश्न यह भी है कि नियतिवाद को प्रसाद ने किस अर्थ में ग्रहण किया है। 'नियति' का तात्पर्य भाग्य से है अथवा नियामिका शक्ति से ? 'नियति' शैवागम दर्शन का एक विशिष्ट शब्द है जो उस तत्त्व के अर्थ में प्रयुक्त होता है जिसके कारण प्रत्येक वस्तु की कारिका-शक्ति

नियत रहती है। तंत्रालोक में कहा गया है—

'नियतिर्नियोजनां धत्ते विशिष्टे कार्यमण्डले।'

नियति के कारण ही सरसों के बीज से सरसों का अंकुर फूटता है और अग्नि में केवल जलाने की शक्ति है। 'नियतिकृतनियमरहितां' में काव्यप्रकाशकार भी 'नियति' शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग करते हुए जान पड़ते हैं। प्रसाद के नियतिवाद के सम्बन्ध में कभी विस्तार से अपने विचार प्रकट करूँगा। यहाँ मैं केवल इतना ही कह देना चाहता हूँ कि 'नियतिवाद' को सर्वदा भाग्यवाद समझने की भूल हमें नहीं करनी चाहिए; उसके शास्त्रीय किंवा पारिभाषिक अर्थ पर भी हमारी दृष्टि रहनी चाहिए।

———

११

हास्य-विज्ञान

नाभि, कांख, पसली-प्रदेश अथवा पैर का तलवा जब गुदगुदाया जाता है तो हँसी क्यों आने लगती है ? क्या इसका कारण यह नहीं है कि शरीर के ये अंग सामान्यतः छुए जानेके आदी नहीं हैं ? अकस्मात् ही जब ये छू दिये जाते हैं तो हँसी आ जाती है । हास्य के और भी अनेक कारण चाहे हों किन्तु हमें यह स्वीकार करना होगा कि आकस्मिकता भी हास्य का एक प्रमुख कारण है । कोई चुटकुला जब पहले-पहले हम सुनते हैं तो हँसी फूट पड़ती है किन्तु बार-बार उसे ही सुनते रहने पर फिर हँमी नहीं आती ।

कोई घटना जब अप्रत्याशित हो तब भी कभी-कभी हँसी आ जाती है । न्यूटन के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उन्होंने दो बिल्लियां पाल रखी थीं— एक मोटी थी; दूसरी दुबली । जब शाम को टहलने जाना होता तो उनको साथ ले जाने की समस्या उसको बड़ी पेचीदी मालूम होती; उसे भैरववाहनों से मोरचा लेना पड़ता; इसलिए बढ़ई बुलाकर कमरे के किवाड में छेद करवाना ही उचित समझा । बड़ी बिल्ली के आने-जाने योग्य छिद्र काटकर जब बढ़ई जाने लगा तब आप तपाक से पूछते हैं—और तुमने छोटी के लिए तो छेद किया ही नहीं ! बढ़ईने इस महान् वैज्ञानिक के भोलेपन पर मुस्करा कर कहा--महाशय, बड़े छेद में से छोटी भी निकल सकती है । उक्त उदाहरण में हँसी का कारण न केवल वस्तु का अप्रत्याशित होना ही है, बल्कि न्यूटन का सरल भोलापन ही यहां हास्य का मुख्य हेतु है । एक दूसरा उदाहरण और लीजिये—

सम्पन्न कुलकी एक मोटी स्त्री थी जो चक्र-द्वार में से बार-बार निकलने का निष्फल प्रयत्न कर रही थी । पास में ही खड़ा एक नवयुवक इस घटनाको देखकर हँसने लगा । नवयुवक का इस तरह हँसना स्त्री को नागवार गुजरा और वह कह उठी—कोई भी शिष्ट व्यक्ति इस तरह की घटना को देखकर गंवारों की तरह हँसने नहीं लगेगा। किन्तु यदि तुम आधे भी शिष्ट या सज्जन होते तो भी न हँसते । नवयुवक तुरंत बोल उठा-अगर श्रीमतीजी जितनी हैं उससे आधी ही होतीं तो आपको आज यह दिन न देखना पड़ता । यहाँ पर हँसी आने का मुख्य कारण है एक प्रकार का अजीबपन और हाजिरजबाबी किन्तु अजीबपन भी बिना आकस्मिकता कै सम्भव नहीं हो पाता । विद्रूपता भी

जो सामान्यतः हास्य का मूल कारण कही जाती है, अपने भीतर आकस्मिकता छिपाये रहती है।

ऊपर जो विवेचन किया गया है उसमें हास्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में तीन बातें बतलाई गई हैं—(१) आकस्मिकता (२) सरलता और (३) अजीबपन किन्तु हास्य की उत्पत्ति के कारणों को केवल इन तीन बातों तक ही सीमित कर देना उचित नहीं। हास्य की उत्पत्ति के अनेक कारण हो सकते हैं। मैं तो जब यह सोचता हूँ कि हँसी जैसी सामान्य वस्तु के असंख्य कारण हो सकते हैं तो मुझे इसी विचार पर एक क्षण के लिए हँसी आ जाती है। हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि श्री पंतजीको जिस बात से हँसी आ जाती है, उसका भी नमूना देखिये—

कहेंगे क्या तुमसे सब लोग
कभी आता है इसका ध्यान!
रोकनेपर भी तो सखि हाय!
नहीं रुकती है यह मुसकान!
विपिन में पावसके-से दीप
सुकोमल, सहसा, सौ सौ भाव!
सजग हो उठते नित उर बीच,
नहीं रख सकती तनिक दुराव।
कल्पना के ये शिशु नादान।
हंसा देते हैं मुझे निदान।

इस लेख में हास्य के मनोविज्ञान पर मैं बहुत विस्तार से विचार नहीं कर रहा हूँ किन्तु केवल एक बात पर बल देना चाहता हूँ। अधिकतर आकस्मिकता के कारण हँसी उत्पन्न होती है किन्तु इसे यह न समझा जाय कि हर एक आकस्मिकता हास्य को जन्म देती है। अकस्मात् यदि कोई भीषण दुर्घटना हो जाय तो हँसी आना तो दूर, लेने के देने पड़ जायंगे। सभवतः ऐसा आश्चर्य हँसी को जन्म देता है जो अप्रत्याशित हो, असामान्य हो, मनोरंजक और सरल हो तथा कुछ अजीबपन लिए हुए हो।

प्राणि-विज्ञान की दृष्टि से भी हँसी का एक विशेष प्रयोजन है, उसपर भी कुछ विचार कर लिया जाय। हमारे शरीर के कुछ स्नायु ऐसे हैं जो संवेदन के केन्द्र हैं और जिनमें अन्य स्नायुओंकी अपेक्षा द्रुत गति से प्रतिक्रियाएं होती रहती हैं। ये स्नायु मतिष्क में ही अवस्थित हैं या शरीर में सर्वत्र फैले हुए हैं, इसके सम्बन्ध में निश्चित् रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु यह निश्चित है कि वक्षःप्रदेश (जहाँ हृदय और फेफड़े स्थित हैं) सबसे पहले प्रभावित होता है, इसलिए वहीं प्रतिक्रिया प्रारम्भ होने लगती है। फेफड़ों के प्रदेश में

अथवा उनके चारों ओर कुछ स्नायु ऐसे होंगे जो किसी प्रभाव को बड़ी तेजी से ग्रहण करने लगते हैं। यही कारण है कि जब हम भरपेट हँस लेते हैं तो शरीर के ये अंग कुछ दुखने लगते हैं, इनमें कुछ पीड़ा-सी महसूस होती है। उक्त स्नायु जब उत्तेजित होते हैं तो हृदय को कुछ दबा-सा देते हैं जिससे शरीर के सब अंगों की ओर रक्त का संचालन होने लगता है। यह सभी जानते हैं कि भरपेट हँसने के व्यापार में चेहरा भी कुछ लालिमा धारण करने लगता है। हँसते समय आँखों में एक विशेष प्रकार की चमक आ जाती है, रुक-रुककर मुँहसे भी ऐसी ध्वनियां निकलती हैं जिनसे हंसने वाले के हर्षातिरेककी व्यंजना होती है। इन सब चेष्टाओं का समावेश हास्य के अनुभावों में किया जा सकता है। जैसा ऊपर बतलाया गया है, हँसते समय हृदय के दबने से उसमें प्रतिक्रिया होने लगती है जिसके परिणामस्वरूप छाती फैल जाती है। छाती के फैलने से उदर प्रदेश भी हिल उठता है जिससे पाचनक्रिया में बड़ी मदद मिलती है।

हास्य मानव-जाति के लिए विभुका एक विशिष्ट वरदान है। पीड़ा के समय पशु पक्षी भी चीखते-चिल्लाते हैं किन्तु हँस वे नहीं सकते। अवस्था बढ़ने पर चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ जाती हैं किन्तु दिल और दिमागपर यदि झुर्रियाँ न पड़ें तो अवस्था-जन्य झुर्रियों को भी पास आते डर लगेगा। पुराने जमाने में विदूषक रखने की जो प्रथा थी, उसका स्वास्थ्य की दृष्टि से भी बड़ा महत्व समझिये। दिल और दिमागपर झुर्रियां न पड़ें, इसके लिए हास्य की शरण लेनी चाहिए।

१२

वस्तुनिष्ठ काव्य और उसका वर्गीकरण

काव्य मुख्यतः दो प्रकार का होता है—(१) व्यक्ति प्रधान और (२) वस्तु प्रधान। गीति-काव्य प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत है जिसमें आत्माभिव्यंजनकी प्रधानता रहती है। व्यक्ति प्रधान काव्य में कवि जितना अपने को प्रकट करता है, उतना वस्तु को नहीं। वस्तु को देखकर जो प्रतिक्रिया कवि के मानस में होती है, उसीका भावनामय उद्गार गीति-काव्य के रूप में प्रस्फुटित होता है किन्तु वस्तु-निष्ठ या वस्तु-प्रधान काव्य में ऐसा नहीं होता। वहां कवि का व्यक्तित्व गौण रूप धारण कर लेता है, प्रमुखता वर्ण्य-विषय की ही रहती है। विषय के स्पष्टीकरण के लिए वस्तुनिष्ठ काव्य का वर्गीकरण नीचे दिया जाता है:—

(१) चारण काव्य—अंग्रेजी में इसके लिए बैलड शब्द का प्रयोग होता है। गुजराती में लावणी, वीणा-काव्य, कथागीत, लोकगीत, गीतकथा, रास आदि अनेक पर्यायवाची शब्द इसके लिए प्रयुक्त होते हैं। कुछ विद्वान् इसे चारण काव्य न कहकर गाथा-काव्य के नाम से अभिहित करते हैं। राजस्थानी और मराठी में इसके लिए पवाडा शब्द व्यवहार में आता है। अंग्रेजी का 'बैलड शब्द' फ्रांसीसी 'Baller' शब्द से आया है जिसका अर्थ है नृत्य। इससे जान पड़ता है कि प्राचीन काल में नृत्य के साथ जो कविता गाई जाती होगी उसे कथागीत (बैलड) कहते होंगे। आजकल बैलड शब्द उस लोकाख्यानक काव्य के लिए प्रयुक्त होता है जिसे पीढ़ी दर पीढ़ी गायकों का वर्ग गाता चला आ रहा हो और जो बहुत लोक प्रिय हो गया हो, अथवा किसी व्यक्ति-विशेष या अनेक व्यक्तियों को लेकर लोक-गीत लिखा गया हो, वह भी बैलड की श्रेणी में आता है। खड़ी बोली हिन्दी का सर्वाधिक प्रसिद्ध कथा-गीत 'झांसी की रानी' है जिसकी टेक अब भी कानों में गूँज उठती है 'खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसीवाली रानी थी।' सच्चे कथा-गीत में लेखक अपनी भावना की उतनी अभिव्यक्ति नहीं करता जितनी जनताकी भावना की अभिव्यक्ति करता है। इसमें प्रायः वीरोचित भावना का सहज सरल आख्यान-बद्ध प्रवाह देखा जाता है जो चित्त को उदात्त और प्रफुल्लित तो करता है किन्तु जिसमें उपदेश का स्वर नहीं होता। कथा-गीत में एक दो पंक्तियों की पुनरावृत्ति से पाठक या श्रोताओं का ध्यान अनवरत रूप से कथा-भाग की ओर आकृष्ट रहता है।

बैलड में मौखिक आदान-प्रदान के कारण परिवर्तन एवं परिवर्द्धन प्रायः होते रहते हैं। प्राचीन कथा-गीत में क्षेपक का अंश इतना मिला होता है कि जिसके कारण उसके निर्माताओं का कोई सुनिश्चित ज्ञान हमें नहीं हो पाता। ऐसे गाथा-काव्य लोक-मानस की सृष्टि समझे जाते हैं।

(२) महाकाव्य-महाकाव्य में आत्माभिव्यंजनकी अपेक्षा विषय-विन्यास की ही प्रधानता रहती है। संस्कृत आलंकारिकों के मत में महाकाव्य का प्रारम्भ तीन प्रकार से होना चाहिये ! (१) आशीर्वचन, (२) नमस्क्रिया और (३) वस्तु-निर्देश द्वारा महाकाव्य की आख्यान वस्तु पौराणिक या ऐतिहासिक होती है, नायक धीरोदात्त होता है, शृंगार, वीर, शान्त-इनमें से एक रस मुख्य होता है, सर्गों की संख्या आठ से अधिक होती है, प्रसंगानुसार युद्ध-वर्णन और प्रकृति-चित्रण होता है, भाषा ओजस्वी और गांभीर्य-व्यंजक होती है।

अरस्तू के मतानुसार महाकाव्य में आदि, मध्य और अन्त स्पष्ट होने चाहिये। इसमें किसी विशिष्ट नायक की जीवन-कथा एक ही छन्द में कही जाती है। महाकाव्य में मानव, दानव तथा देव-देवियों के चरित्र की अवतारणा के कारण अतिलौकिक तत्त्व का भी समावेश हो जाता है। महाकाव्य का अन्त सुखात्मक ही हो—इस तरह का कोई बँधा हुआ नियम पश्चात्य समीक्षकों की दृष्टि में नहीं है। जटिल घटनाओं और बहुविध चरित्रों के सन्निवेश होने पर भी महाकाव्य में एक अखण्ड शिल्पात्मक सौन्दर्य और महत्वव्यंजक गांभीर्य देखा जाता है। महाकाव्य की भाषा प्रसाद गुण संपन्न, ओजस्वी तथा आलंकारिक होती है।

प्राच्य तथा पश्चात्य समीक्षकों द्वारा निर्दिष्ट विशेषताओं को लक्ष्य में रखकर हम कह सकते हैं कि महाकाव्य सर्ग, काण्ड, खंड आदि में विभाजित वह महान् कथा वस्तु है जिसमें एक या अनेक वीर चरित्रों की अवतारणा प्रसंगानुकूल युद्ध और प्रकृति-वर्णन के साथ-साथ स्थान स्थान पर अलौकिक तत्त्व को लेकर ओजस्वी छन्दों में की गई हो।

महाकाव्यों के इतिहास की छानबीन करने पर पता चलता है कि कभी-कभी महाकाव्य के किसी एक लेखकका निश्चय नहीं हो पाता क्योंकि युग-युग से अनेक कवि उस महाकाव्य में अपनी कृतियों का समावेश करते रहते हैं। महाभारत जैसे महाकाव्य का यही हाल है। उसमें का कितना अंश वेदव्यास-रचित है और कितना अन्य लेखकों द्वारा—यह अब भी एक विवादास्पद प्रश्न बना हुआ है। ईलियड भी इसी तरह की रचना है। ऐसे महाकाव्यों को

विकासात्मक महाकाव्य (Epic of growth) कहा जाता है।

जो महाकाव्य एक व्यक्ति द्वारा रचित होता है और जिसमें एक राष्ट्र की संपूर्ण साधना और संस्कृति का चित्रण होता है उसे साहित्यिक महाकाव्य का नाम दिया गया है। गोस्वामी तुलसीदास का रामचरितमानस और प्रसाद की कामायनी इसी तरह के महाकाव्य हैं। रामचरित मानस में भी यद्यपि प्रक्षिप्त अंश देखे जाते हैं किन्तु फिर भी उनको अलग करना विशेष कठिन नहीं है।

जब किसी लघु अथवा सामान्य कथा-वस्तु का अवलम्बन करके व्यंग्यात्मक महाकाव्य लिखा जाता है तो वह विद्रूपात्मक महाकाव्य (Mock Eapic) कहलाता है। पोपकी एक रचना है (दी रेप आफ दी लाक) जो महाकाव्योचित पद्धति पर व्यंग्य का आश्रय लेकर लिखी गई है। इसमें (मिस अरबेला फरमोर) नाम्नी किसी महिला के केश काटने की कहानी है। इस रचना को विद्रूपात्मक महाकाव्य की श्रेणी में रखा गया है।

(३) संस्कृत साहित्य में भर्तृहरि की नीतिशतक आदि रचनाएँ हैं जिनको नीति काव्य की श्रेणी में रखा जा सकता है। दीनदयालगिरिका 'अन्योक्ति कल्पद्रुम' भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत आता है। नीति-काव्य में यदि निरी शुष्क उपदेशात्मकता ही हो और कल्पना का रमणीय विलास उसमें न हो तो काव्य की दृष्टि से उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं रह जाता।

(४) गोप-काव्य—इस प्रकार के काव्य में वन, वाटिका, पशु-पत्ती, पेड़ पौधे तथा वहां के निवासियों का मनोहारी वर्णन होता है। प्रचीन काल का सहज सुन्दर ग्राम्य-चित्र आँखों के सामने नृत्य करने लगता है। हिन्दी साहित्य में सूरदास, नन्ददास आदि वैष्णव कवियों की बहुत- सी रचनाएँ गोप-काव्य का सुन्दर उदाहरण उपस्थित करती हैं।

(५) रूपक कविता—किसी गल्प या कथा का आश्रय लेकर अन्य वस्तु की व्यंजना जिसके द्वारा होती है उसे रूपक-कविता (Allegory) कहते हैं। बनयान की (Pilgrim's progress) इसी तरह की कृति है। जायसी का पद्मावत भी रूपक-काव्य का उदाहरण है। प्रसादजी की कामायनी में भी रूपक का सुन्दर निर्वाह हुआ है किन्तु उसमें धार्मिकता की प्रधानता नहीं है, 'कामायनी' का रूपक मूलतः मानव विकास और मनोवृत्तियों का रूपक है।

(६) रूपक कविता का ही एक छोटा रूप है (Parable) या दृष्टान्त कथा। बाइबिलकी दृष्टान्त—कथाएँ अत्यन्त प्रसिद्ध प्राप्त कर चुकी हैं।

(७) व्यंग्य-काव्य—अंग्रेजी का (सैटायर) शब्द (सैटूरा लैक्स) नामक शब्द से आया है। मनुष्य के आचार-व्यवहार, उसकी रीति-नीति तथा

उसके चरित्र-संशोधन को लक्ष्य में रखकर जो नीति-कविता लिखी जाती है उसे व्यंग्य कविता कहते हैं जिसका समीक्षकों द्वारा अनेक प्रकार से वर्गीकरण किया गया है।

(८) विडम्बन काव्य—(Parody) में किसी कवि की कविता को विद्रूप करके उसे अतिरंजित रूप दिया जाता है। मूल-कविता की विचक्षण रसभरी समालोचना विडम्बन- काव्य द्वारा हो जाती है।

(९) नाटकीय स्वगतोक्ति (Dramatie Monologue) में कोई पात्र एक अथवा अनेक श्रोताओं के निकट अपने विचारों और भावों को प्रकट करता है। गुप्तजीका 'द्वापर' इसी प्रकार की रचना कही जा सकती है।

(१०) गीति-नाट्य—गीति-काव्य जब नाटकीय गुणों से युक्त होकर प्रकाशित होता है तब हम उसे गीति-नाट्य कहते हैं। रवीन्द्र का 'कर्णकुन्ती संवाद' इस प्रकार की रचना का उदाहरण है। हिन्दी में श्रीउदयशंकर भट्ट ने अच्छे गीति-नाट्यों की रचना की है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने की बात है कि गीति-नाट्य में आत्म-निष्ठा तथा वस्तु निष्ठा दोनों का सामंजस्य देखने को मिलता है।

उक्त वर्गीकरण में श्रीशचन्द्र दास महोदय के एक बँगला लेख से सहायता ली गयी है।

१३

रामचन्द्रिका के सबन्ध में कुछ ज्ञातव्य बातें

'रामचन्द्रिका' की भाषा यद्यपि ब्रज भाषा है किन्तु उसमें बुन्देलखण्डी का पुट स्थान-स्थान पर मिलता है। जैसे—

(1) राम देखि रघुनाथ, रथ ते उतरे वेगि दै।

'शीघ्रता से' के अर्थ में 'वेगि दै' बुन्देलखण्डी प्रयोग है। जोर के लिए 'दे' का प्रयोग राजस्थानी में भी देखा जाता है। जैसे 'धम्मदे पड़्यो' अर्थात् धम से गिर पड़ा। 'धम्म' अनुकरण-शब्द है।

(2) आनन्द प्रकाशी सब पुरवासी करत ते दौरा दौरी।

अर्थात् आनन्द प्रकाशित करने वाले समस्त पुरवासी जन दौड़-धूप कर रहे थे। 'करते थे' के अर्थ में 'करत ते' बुन्देलखण्डी प्रयोग है।

(३) रामचन्द्र कटि सों पटु बांध्यो। लीलयेव हर को धनु सांध्यो ॥

'कटि सों पटु बाँध्यो' यह बुन्देलखण्डी मुहावरा है।

केशव का शब्द चयन सर्वत्र उपयुक्त नहीं हुआ है। कुछ उदाहरण लीजिये—

"(राजा जनक भोजन के लिए निमंत्रण देते हैं) यदि आप हृदय से मुझे अपना दास समझते हो तो मैं निवेदन करता हूँ कि जिस प्रकार आपने कल कष्ट उठाया है (कृपा करके मेरे महल तक गये हैं) उसी प्रकार आज भी कष्ट उठाइये। आप अवश्य कृपा करेंगे—ऐसा समझ कर ही मैंने यह ढिठाई की है, हम लोग (परिवार समेत) आपका चरणोदक लेना चाहते हैं।" इसके बाद कवि की उक्ति है—

(क) जब ऋषिराज विनय कर लीनों।
सुनि सबके करुणा रस भीनों॥

यहाँ शोक का कोई प्रसंग न होने के कारण करुणा रस का प्रयोग ठीक नहीं है। पूर्ववर्ती प्रसंग का हमें ज्ञान न हो और इन दो पंक्तियों का ही स्वतंत्र रूप से हम अर्थ करने लगें तो हम अवश्य ही यह सोचेंगे कि 'ऋषिराज' की विनय किसी करुण प्रसंग को लेकर ही हुई होगी।

(ख) प्रचंड हैहयाधिराज दंडमान जानिये।
अखंड कीर्त्ति लेय भूमि देयमान मानिए॥
अदेव देव जेय भीत रक्षमान लेखिये।
अमेय तेज भर्ग भक्त भार्गवेश देखिये॥

उक्त पंक्तियों में दंडमान, देयमान, जेय और रक्षमान क्रमशः दंड देने वाले, दाता, जीतने वाले और रक्षा करने वाले-इन अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं किन्तु विज्ञ पाठक समझ सकते हैं कि इस प्रकार के प्रयोग अजीब-से ही हैं। दंडमान (सं. शानच्) का अर्थ होता है 'दण्ड देता हुआ।' किन्तु यहां 'दण्डमान' दंड देने वाले के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । 'दण्डमान' के सादृश्य पर 'देयमान' शब्द गढ़ लिया गया है; व्याकरण के नियमानुसार तो 'ददत्' अथवा 'ददान' शब्द निष्पन्न होता है। 'जेय' शब्द का अर्थ है 'जो जीतने योग्य हो, जीता जा सके' किन्तु स्व. लाला भगवान दीनजी के मतानुसार 'जेय' शब्द का यहां अर्थ है (जेयमान) अर्थात् जीतने वाले । हम यह भी कह सकते हैं कि "परशुराम के लिए अदेव और देव दोनों जेय हैं।"

साहित्यदर्पणकार ने 'अवाचकत्व' दोष का वर्णन करते हुए इस प्रकार के प्रयोगों को काव्य दोष में शामिल किया है। एक उदाहरण लीजिये—

"वर्ण्यते किं महासेनो विजेयो यस्य तारकः।"

अर्थात् उस कार्तिकेय का क्या वर्णन किया जाय जिसके लिए तारकासुर विजेय है। 'विजेय' का अर्थ 'विजित' नहीं होता किन्तु उक्त पंक्ति में 'विजित' के अर्थ में हो 'विजेय' का प्रयोग हुआ है । इसीलिए साहित्यदर्पणकार ने कहा है:—

"अत्र विजेय इति कृत्य प्रत्ययः क्तप्रत्यार्थेऽवाचकः।"

अर्थात् यहाँ 'विजेय' पद में क्त प्रत्यय के अर्थ में यत् (अचो यत्) प्रत्यय का प्रयोग किया गया है, अतः पदांशगत 'अवाचकत्व' है।

ऊपर दिये हुए उदाहरण में केशव ने 'दण्डमान' का प्रयोग दण्ड देने वाले के अर्थ में किया है; नीचे दिये हुए पद्य में 'दण्डनीय अथवा दण्ड्य' के अर्थ में 'दण्डमान' शब्द का प्रयोग हुआ है—

विचारमान ब्रह्म, देव अर्चमान मानिए।
अदीयमान दुःख,-सुक्ख दीयमान जानिए॥
अदण्डमान दीन, गर्व दण्डमान भेद वै।
अपठ्ठमान पापग्रंथ, पठ्ठमान वेद वै॥

छन्द की पूर्ति के लिए 'निश्चय ही' के अर्थ में विशुद्ध संस्कृत अव्यय 'वै' का प्रयोग भी द्रष्टव्य है।

कहीं-कहीं केशव ने मनमाने अर्थ में शब्दों का प्रयोग किया है। जैसे,

"ईश-ईश जगदीश बखान्यो। वेदवाक्य बल ते पहिचान्यो।"

अर्थात् भरत जी कहते हैं कि जो नीति मैंने ऊपर कही है, वह मेरी गढ़ी नीति नहीं है, वह ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश के वचन हैं। वेद में ऐसा ही लिखा

है और मैंने पढ़ा है। टीकाकार के मतानुसार जान पड़ता है कि 'ईश-ईश जगदीश' ये तीनों शब्द ब्रह्मा, विष्णु, महेश के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं किन्तु नहीं कहा जा सकता इन प्रयोगों के लिए कोई शास्त्रीय अथवा अन्य आधार है अथवा नहीं।

"भरत जाय भागीरथी तीर कर्यो संकल्प।"

जब हम पढ़ते हैं—

"चले दशग्रीवहि मारिबे को। तपी ब्रती केवल पारिबे को।" तो कथा प्रसंग से 'पारिबे को' का अर्थ हम 'पालन करने के लिए' ही करते हैं किन्तु 'पारिबे को' में उखाड़ डालने की भी ध्वनि है जिससे इस शब्द का प्रयोग यहाँ उतना समीचीन नहीं जान पड़ता—

"रूरे बगरूरे" में केवल यमक के लिए 'रूरे' का प्रयोग हुआ जान पड़ता है। निम्नलिखित पंक्ति में 'पतिदेवन' का यह बहुव्रीहि-प्रयोग भी देखते ही बनता है जहां 'पतिदेवन' का अर्थ हो गया है 'पतिव्रता स्त्रियाँ' (अर्थात् पति ही हैं देवता जिनके लिए)—

"मानो पतिदेवन की रति सी। सनमारग की समझौ गति सी॥"

अर्थात् इस शरद् ऋतु को पतिव्रता स्त्रियों के सच्चे प्रेम के समान मानो, क्योंकि जैसे उनके प्रेम से स्वस्वामि-भक्ति रूपी सन्मार्ग की चाल से औरों को सन्मार्ग पर चलने की चाल सूझ पड़ती है, वैसे ही इस शरद के आने से सब रास्ते सूझ पड़ने लगे।

नीचे की पंक्ति में 'चन्द्रानन' को मिला कर रख देने से देखिये, किस प्रकार समास-दोष उत्पन्न हो गया है—

"दंतावलि कुन्द समान गनो। चन्द्रानन कुंतल भौंर घनो॥"

अर्थात् गर्वीले कुन्द पुष्प ही शरद सुन्दरी के दांत समझो, चन्द्रमा को ही मुख और भ्रमर समूह को केश मानो। 'चन्द्र' और 'आनन' अलग-अलग रहने चाहिए थे। प्रथम बार पढ़ने पर तो 'समान' शब्द 'सदृश' के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ हो, ऐसा लगता है किन्तु मान सहित अर्थात् 'गर्वीला' अर्थ करने पर 'उपमा' रूपक में परिणत हो जाती है।

व्याकरण विरुद्ध प्रयोगों की भी रामचन्द्रिका में कमी नहीं है। जैसे,

आनि भरत्त पुरी अवलोकी। थावर जंगम जीव ससोकी।

'निर्दयी' जैसे शब्दों का प्रयोग व्याकरण-विरुद्ध भले ही हो किन्तु फिर भी ये शब्द चल पड़े हैं किन्तु सदयी और 'ससोकी जैसे शब्द व्याकरण-विरुद्ध तो हैं ही, अप्रचलित भी हैं।

संस्कृत और फारसी के शब्दों को मिलकर भी कहीं-कहीं केशव ने समासान्त शब्द बनाए हैं जैसे,

लंक लगाइ दई हनुमंत विमान बचे अति उच्चरुखी हैं।

'उच्चरुखी' में 'उच्च' संस्कृत तथा 'रुख' फारसी शब्द है। भाषा में इस हिन्दू-मुसलिम ऐक्य की ओर हमारा ध्यान गये बिना नहीं रहता। गोस्वामी जी ने भी 'शरीकता और मिस्कीनता' का प्रयोग किया है।

ब्रज-भाषा में सप्तमी विभक्ति के 'में' 'पै' का लोप बहुत अधिक होता है, तृतीया की विभक्ति भी अनेक बार लुप्त रहती है। नीचे की पंक्ति में 'रन' के साथ 'में' का लोप द्रष्टव्य है—

रन मारि अक्ष कुमार बहु विधि इन्द्रजित सौं युद्ध कै।'

रामचन्द्रिका में अनेक स्थानों पर शब्दों के प्राचीन रूप भी व्यवहृत हुए हैं। जैसे,

(क) विनती करिये जन ज्यों जिय लेखो।'

इस पंक्ति में प्रयुक्त विनती करिए' का का अर्थ यह नहीं है कि आप विनय कीजिये, अर्थ है, विनती की जाती है ,अर्थात् मैं विनय करता हूँ। 'करिए' का इस अर्थ में यह बहुत प्राचीन प्रयोग है। अब यह 'विधि' में आता है।

(ख) 'कछु मैं न जानी बात। कच तोरियो धनु तात।' में 'तोरियो' भूत काल का प्राचीन रूप है। अब 'तोरयो' 'तोरो'—ये रूप प्रयुक्त होते हैं।

(ग) कर्म कारक में प्रयुक्त इस 'हम' को भी देखिए—

"सुनि राजपुत्रिके एक बात। हम बन पठये हैं नृपति तात।"

परवर्ती वाक्य का यह अर्थ नहीं है कि हमने तात को वन में भेजा है, अर्थ यह है कि 'हमको पिता ने वन में भेजा है।' 'हम्म' प्राचीन रूप है।

पहले सब कारकों में 'हि' का प्रयोग होता था। 'फल भोजन को तेहि धरे आनि।' अर्थात् उसने भोजनार्थ फल लाकर रख दिये। यहां 'तेहि' कर्त्ता कारक है। सब कारकों के साथ 'हि' प्रयोग के उदाहरण भी ढूँढ़ने पर मिल सकते हैं किन्तु विस्तार-भय से उदाहरण नहीं दिये जा रहे हैं।

कहीं-कहीं अप्रचलित अर्थ वाले शब्दों के प्रयोग के कारण भी केशव की भाषा में दुरूहता आ गई है। उदाहरणार्थ—

"अति उच्च अगारनि बनी पगारनि जनु चिन्तामणि-नारि।"

अर्थात् ऊँचे मकानों पर चहारदीवारी बनी हैं मानो चिन्तामणियों का समूह हो। 'नारी' शब्द समूह के अर्थ में यहाँ प्रयुक्त हुआ है।

ध्वनि के अच्छे उदाहरण कहीं-कहीं 'रामचन्द्रिका' में मिल जाते हैं। जैसे-

"सीताजी के रूप पर देवता कुरूप को हैं ?" अर्थात् सीताजी के रूप के सामने कुरूप देवता क्या चीज हैं ? देवताओं को कुरूप कहने में ध्वनि

शायद यह है कि देवताओं में किसी के चार मुख हैं, किसी के पांच मुख हैं और किसी के हाथी जैसा ही मुख है। देवनाओं जैसा रूप अद्भुत और डरावना तो हो सकता है, उसमें सीता के सौन्दर्य जैसा मानवी सौन्दर्य कहाँ ?

ध्वनि का एक उदाहरण और लीजियेः—

बर बाण शिखीन अशेष समुद्रहि सोखि सखा सुखही तरिहौं।
अरु लंकहि औटि कलंकित कै पुनि पंक कनंकहि की भरिहौं॥
भलि भूंजिकै राखसुखै करिकै दुख दीरघ देवन के हरिहौं।
सितकंठ के कंठहि को कठुला दसकंठ के कंठन को करिहौं॥

अर्थात् हे सखा कुठार ! मैं अग्नि बाणों से समस्त समुद्र को सुखा कर सहज ही में उस पार चला जाऊँगा और उस कलंकी (अपराधी) रावण की लंका को पिघला कर पुनः समुद्र को सोने की कीच से भर दूँगा, पुनः लंका अच्छी तरह जलाकर सहज ही में राख करके देवों के दीर्घ दुःख दूर कर दूँगा और दशानन के दसों मस्तकों की माला बना कर महादेव क कण्ठ में पहनाऊंगा । दीनजी ने 'राख सुखै करिकै' का अर्थ किया है 'सहज ही में राख करके'। 'राखसु खै करिकै' इस प्रकार पद-भंग करके यह भी अर्थ किया जा सकता है "राक्षसों का क्षय करके।" राख से देवताओं का दुःख दूर कर दूंगा—ऐसा कहने में स्वर्ण भस्म का रूपक व्यंग्य है, स्पष्ट नहीं । स्वर्ण भस्म द्वारा रोग नष्ट किये ही जाते है।

एक दोहा और लीजियेः—

ग्रीवा श्री रघुनाथ की, लसति कंबु बर बेष।
साधु मनो बच काय की, मानो लिखी त्रिरेख॥

अर्थात् श्रीरघुनाथजी की ग्रीवा शंख की आकृति की तरह शोभा देती है। रामचन्द्र मन, वचन, कर्म तीनों से साधु हैं—यही प्रकट करने के लिए मानो ब्रह्मा ने गले में तीन रेखाएं खींच दी हैं। ध्वनि यह है कि लकीर खींची हुई बात बहुत पक्की होती है।

एक अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनि का उदाहरण लीजियेः—

'बालक बिलोकियत पूरण पुरुष गुन, मेरो मन मोहियत ऐसो रूप धाम है।"

यहाँ 'मेरो' शब्द में अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य ध्वनि है। परशुराम कहते हैं कि जन साधारण मोहित हो जाय तो हो जाय, पर मेरा भी मन (जिसने संयम का इतना अभ्यास किया है) बालक के रूप को देखकर मोहित हो रहा है।

केशव में कवि-परम्परा के विरुद्ध वर्णन भी मिल जाते हैं । उदाहरण के लिए—

"शुभ राजहंस कुल नाचत मत्त मयूरगन।"

यहां राजहंस और मयूरों का एक साथ ही वर्णन कर दिया गया किन्तु वर्षा में हंस मानसरोवर को चले जाते हैं और वर्षा के आगमन पर ही मोर नाचते हैं। दोनों एक साथ वर्षा में नहीं होते।

कहीं-कहीं बड़े साभिप्राय शब्दों का प्रयोग केशव की रामचन्द्रिका में हुआ है—

"शोक की आग लगी परिपूरण आई गये घनश्याम बिहाने।
जानकि के जनकादिक के सब फूलि उठे तरु पुण्य पुराने॥"

अर्थात् जनक का हृदय जब पूर्ण रूप से शोक की ज्वाला से दग्ध हो रहा था अचानक प्रातः काल के समय बादल की तरह श्याम रंगवाले रामचन्द्र जनकपुर में आ गये जिससे जानकी और जनकादि के पुराने पुण्य के वृक्ष पुनः प्रफुल्लित हो उठे। 'घनश्याम' शब्द यहां साभिप्राय है इसलिए प्रथम पंक्ति के 'घनश्याम' शब्द में परिकरांकुर है। केशव के टीकाकार दीनजी ने यहाँ परिकरांकुर के अतिरिक्त 'समाधि' अलंकार भी माना है किन्तु यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो 'समाधि' अलंकार यहां है ही नहीं। 'समाधि' की परिभाषा देते हुए काव्यप्रकाशकार कहते हैं—

"समाधिः सुकरं कार्यं कारणान्तरयोगतः।"

अर्थात् जहां कारणान्तर के योग से कार्य सुगम हो जाय, वहां 'समाधि' अलंकार होता है। उदाहरण के लिए—

मानमस्या निराकर्तुं पादयोर्मे पतिष्यतः
उपकाराय दिष्ट्येदमुदीर्णं घनगर्जितम्॥

अर्थात् इस नायिका के मान को दूर करने के लिए मैं इसके पैरों पर गिरने ही वाला था कि मेरे सौभाग्य से बादल गरजने लगा।

कार्य-सिद्धि के लिए पाद-पतन रूप कारण का आश्रय लिया जाने वाला था कि गर्जन रूप दूसरे कारण द्वारा कार्य सरल हो गया। 'समाधि' अलंकार में कारणान्तर आवश्यक है। 'रामचन्द्रिका' से उद्धृत ऊपर की पंक्तियों में कारणान्तर नहीं है, इसलिए समाधि' अलंकार यहां नहीं हो सकता।

'रामचन्द्रिका' में कहीं-कहीं रस के सब अवयवों का प्रयोग हुआ है-

आँसु बरषि हियरे हरषि, सीता सुखद सुभाइ।
निरखि निरखि पिय मुद्रिकहिं, बरनति है बहु भाइ॥

इस दोहे में शृंगार रस के सब अवयव हैं जो नीचे दिखाये जाते हैं—

आलंबन-राम
उद्दीपन-मुद्रिका
संचारी-हर्ष

अनुभाव-आंसू बरसाना, मुद्रिका को एकटक देखना आदि।

'रामचन्द्रिका' को लेकर जैसी आलोचना ऊपर की गई है, वह यद्यपि आधुनिक युग के उतनी अनुकूल नहीं है तथापि केशव जैसे पण्डित कवि की समीक्षा करते समय आलोचना की इस शास्त्रीय पद्धति के बिना सहज ही काम नहीं चल सकता।

१४

रामचंद्रिका और अध्यात्म-रामायण

गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस के प्रारम्भ में जिस प्रकार नाना पुराण निगमागमों एवं वाल्मीकि रामायण आदि का ऋण स्वीकार किया है, उस तरह की स्वीकारोक्ति चाहे केशव ने न की हो पर इसमें सन्देह नहीं कि अनेक संस्कृत ग्रन्थों के भाव केशव की रामचन्द्रिका में ज्यों के त्यों मिल जाते हैं। 'केशव की काव्य-कला' के लेखक ने 'रामचन्द्रिका तथा संस्कृत-ग्रन्थ' शोर्षक प्रकरण में प्रसन्नराघव तथा हनुमान्नाटक को लेकर रामचन्द्रिका के बहुत से पद्यों से समानता दिखलाई है किन्तु संस्कृत नाटकों से ही केशव ने भाव ग्रहण किये हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। आध्यात्मरामायण में भी कुछ स्थल ऐसे हैं जिनके भाव 'रामचन्द्रिका' के कुछ पद्यों से बहुत कुछ टकरा जाते हैं। उदाहरण के लिए अध्यात्म रामायण की निम्नलिखित पंक्तियों को लीजिये—

सीता भीता लीयमाना स्वात्मन्येव सुमध्यमा।
अधोमुख्यश्रुनयना स्थिता रामार्पितान्तरा ॥२१॥
रावणोऽपि तदा सीतामालोक्याह सुमध्यमे।
मां दृष्ट्वा किं वृथा सुभ्रु स्वात्मन्येव विलीयसे ॥२२॥
रामो वनचराणां हि मध्ये तिष्ठति सानुजः।
कदाचिद् दृश्यते कौश्चित्कदाचिन्नैव दृश्यते ॥२३॥
मया तु बहुधा लोकाः प्रेषितास्तस्य दर्शने।
न पश्यन्ति प्रयत्नेन वीक्षमाणाः समन्ततः ॥२४॥
किं करिष्यसि रामेण निःस्पृहेण सदा त्वयि।
त्वया सदाऽऽलिङ्गितोऽपि समीपस्थोऽपि सर्वदा ॥२५॥
हृदयेऽस्य न च स्नेहस्त्वयि रामस्य जायते।
त्वत्कृतान्सर्वभोगांश्च त्वद्गुणानपि राघवः ॥२६॥
भुञ्जानोऽपि न जानाति कृतघ्नो निर्गुणोऽधमः।
त्वमानीता मया साध्वी दुःखशोकसमाकुला ॥२७॥
इदानीमपि नायाति भक्तिहीनः कथं व्रजेत्।
निःसत्त्वो निर्ममो मानी मूढः पण्डितमानवान् ॥२८॥
नराधमं त्वद्विमुखं किं करिष्यसि भामिनि।
त्वय्यतीव समासक्तं मां भजस्वासुरोत्तमम् ॥२९॥
देवगन्धर्वनागानां यक्षकिन्नरयोषिताम्।

भविष्यसि नियोक्त्री त्वं यदि मां प्रतिपद्यसे ॥३०॥
रावणस्य वचः श्रुत्वा सीताऽमर्षसमन्विता ।
उवाचाधोमुखी भूत्वा निधाय तृणमन्तरे ॥३१॥

—(अध्यात्मरामायण सुन्दरकाण्ड सर्ग २)

अर्थात् सुन्दर कटि वाली सीता घबड़ाकर अपने शरीर को सिकोड़ नीचे को मुख करके बैठ गयीं। उस समय उनके नेत्रों में जल भर आया और हृदय भगवान राम में लग गया। सीता जी को देख कर रावण बोला—"हे कमनीय कटि और सुन्दर भृकुटि वाली! तू मुझे देखकर वृथा क्यों इतनी सिकुड़ती है? राम तो अपने भाई के साथ बनचरों में रहता है, वह कभी तो किसी को दिखायी देता है और कभी दिखायी भी नहीं देता। मैंने तो उसे देखने के लिए कितने ही लोग भेजे, परन्तु बहुत प्रयत्नपूर्वक सब ओर देखने पर भी वह उनको कहीं दिखायी नहीं दिया। अब राम से तुझे क्या काम है? वह तो तुझ से सदा उदासीन रहता है। सदा तेरे पास रहते हुए और सदा तुमसे आलिङ्गन होते हुए भी उसके हृदय में अभी तक तेरे प्रति स्नेह नहीं हुआ। राम को तुझ से जितने भोग प्राप्त हुए हैं और तुझमें जितने गुण हैं उन सबका भोग कर भी वह कृतघ्न, गुणहीन और अधम कभी उनकी याद भी नहीं करता। तुझ जैसी सती को दुःख और शोक से व्याकुल देखकर ही मैं ले आया था और देख, वह तो अभी तक नहीं आया; जब उसे तुम में प्रेम ही नहीं है तो आता कैसे? वह सर्वथा असमर्थ, ममताशून्य, अभिमानी, मूर्ख और अपने को बड़ा बुद्धिमान् मानने वाला है। हे भामिनि! अपने से उदासीन उस नराधम से तुझे क्या लेना है? देख, मैं राक्षस-श्रेष्ठ तुझसे अत्यंत प्रेम करता हूँ, अतः तू मुझे ही अङ्गीकार कर। यदि तू मेरे अधीन रहेगी तो देव, गन्धर्व, नाग, यक्ष और किन्नर आदि की स्त्रियों का शासन करेगी।"

रावण के ये वचन सुनकर सीता जी को बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने सिर नीचा कर लिया और बीच में तृण रख कर कहा॥ २१—३१॥ (सुन्दरकाण्ड) टीकाकार ने उक्त पद्यों (२३—२८ तक) का भक्ति परक अर्थ निम्नलिखित ढङ्ग से किया है—

"राम अपने भाई के साथ बनवासी तपस्वियों में रहते हैं। उनमें से वे (ध्यान-धारणादि द्वारा) कभी किसी को दिखायी देते हैं और कभी (ध्यान धारणादि से भी) दिखायी नहीं देते। मैंने तो उनका साक्षात्कार करने के लिए कई बार अपनी इन्द्रियों को उधर लगाया है किन्तु बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी मुझे उनका साक्षात्कार नहीं हुआ। (तुम साक्षात् योग माया हो, परब्रह्म राम के साथ सदा तुम्हारा सहवास है और उसके साथ तादात्म्य

भी है किन्तु) फिर भी वह सर्वदा निःस्पृह और असंग है। उसे तुम्हारी परवा नहीं है। निःस्पृह और असंग होने से परब्रह्मरूप राम को तुम मायारूपिणी से बन्धन भी नहीं होता और न वह तुम्हारे (माया के) गुण या भोगों में ही फँसता है। सांख्यवादीगण (उपचार से) उसे भोक्ता भी कहते हैं तथापि उन्हीं के मतानुसार "जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः" इस श्रुति के अनुसार वह 'मैं भोक्ता हूँ' ऐसा अभिमान नहीं करता। इसी प्रकार वह कृतघ्न (किए हुए कर्मों का नाश करने वाला), निर्गुण, सत्व, रज, तम से रहित और अधम (न धमति शब्दविषयो भवति—जो शब्द का विषय न हो अर्थात् अशब्द) भी है। उसकी माया पर प्रीति नहीं है, इसलिए वह अभी तक नहीं आया। इससे रावण अपने को लक्ष्य करके कहता है कि वह अब भी मेरे हृदय में नहीं आता क्योंकि भक्तिहीन होने से मेरा हृदय उस तक कैसे पहुँच सकता है? वह निर्गुण, ममतारहित, अमानी, मूढ़ (म्=शिवः+उः=ब्रह्मा ताभ्याम् ऊढ़ः—ध्यानविषयन्नीतः अर्थात् शिव और ब्रह्मा के ध्येय) और विद्वानों में सम्मानित है। नराधम (नराः अधमाः यस्मात् स नराधमः—मनुष्य जिससे अधम हैं अर्थात् पुरुषोत्तम) विमुख (मायापराङ्मुख)।

अध्यात्म-रामायण के इन पद्यों के साथ रामचन्द्रिका का निम्नलिखित प्रसंग पढ़िये—

तहाँ देव द्वेषी दसग्रीव आयो
सुन्यो देवि सीता महा दुःख पायो॥
सबै अङ्ग लै अङ्ग ही में दुरायो।
अधोदृष्टि कै अश्रुधारा बहायो॥
सुनौ देवि मोपै कछू दृष्टि दीजै।
इती सोच तो राम काजै न कीजै॥
बसै दंडकारण्य देखै न कोऊ!
जु देखै महा बावरो होय सोऊ॥
कृतघ्नी कुदाता कुकन्याहि चाहै।
हितू नग्नमुंडीन ही को सदा है॥
अनाथै सुन्यो मैं अनाथानुसारी।
बसैं चित्त दण्डी जटी मुंडधारी॥
तुम्हें देवि दूषै हितू ताहि मानै।
उदासीन तोसों सदा ताहि जानै॥
महा निर्गुणी नाम ताको न लीजै।
सदा दास मोपै कृपा क्यों न कीजै॥
अदेवी नृदेवीन की होहु रानी।
करैं सेव बानी मघौनी मृडानी॥

लिये किन्नरी किन्नरी गीत गावें ।
सुकेसी नचैं उवर्सी मान पावें ॥
तृन बिच दै बोली सीय गंभीर बानी ।
दसमुख सठ को तू कौन की राजधानी ॥

× × ×

रामचन्द्रिका के उक्त पद्यों का अर्थ गौरव-भय से यहाँ नहीं दिय जा रहा है। स्वर्गीय लाला भगवानदीनजी की टीका का आश्रय लेकर सामान्य पाठक भी इन्हें भली भांति समझ लेंगे। आध्यात्म-रामायण के श्लोकों तथा रामचन्द्रिका के पद्यों में जो साम्य है उसकी ओर हमारा ध्यान गये बिना नहीं रहता। रामचन्द्रिका का उक्त प्रसंग लिखते समय केशव के सामने ऊपर दिये हुए अध्यात्म-रामायण के श्लोक अवश्य ही रहे होंगे। कहीं-कहीं तो उन्हीं शब्दों का प्रयोग केशव ने किया है जो अध्यात्म-रामायण के उक्त पद्यों में मिलते हैं। प्रसंग-गर्भत्व की पाण्डित्यपूर्ण छटा यहाँ देखने को मिलती है। केशव ने इस प्रसंग को कुछ और अधिक पल्लवित किया है। रामचन्द्रिका का यह प्रसंग अध्यात्म-रामायण के वर्णन से किसी प्रकार घटकर नहीं जान पड़ता। विद्वानों का काम है कि केशव-सम्बन्धी ग्रंथों का अनुशीलन करते समय वे उन सब संस्कृत ग्रन्थों का पता लगावें जिनसे प्रकट या अप्रकट रूप में केशव प्रभावित हुए हैं।

१५

कामायनी के सर्गों का अनुक्रम

छायावादी युग प्रधानतः प्रगीत रचनाओं का युग था। प्रसाद को छोड़कर अन्य किसी छायावादी कवि ने प्रबन्ध काव्य की रचना नहीं की और प्रसाद ने जिस 'कामायनी' महाकाव्य की सृष्टि की, वह केवल कविका कीर्ति स्तम्भ ही नहीं, भारतीय संस्कृति की अमर निधि भी है। काव्य के माध्यम से दर्शन और मनोविज्ञान ने भी 'कामायनी' में अपना स्थान सुरक्षित कर लिया है। इस महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग का नामकरण दर्शनीय है। मानवीय वृत्तियों के विकासका सम्पूर्ण स्वरूप इसमें दिखाने की कवि ने चेष्टा की है। इसका आरम्भ यौवन काल से होता है जब कि मनुष्य अपना उत्तरदायित्व समझने लगता है। मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि बालक का मूल व्यक्तित्व कुछ सप्ताह या अधिक से अधिक कुछ महीनों में प्रस्फुटित हो जाता है, उसी बीज का विकास आगे होता रहता है, किन्तु भारतीय दार्शनिक कहते हैं कि प्राक्तन संस्कारों का ही यहाँ विकास होता है। इस सम्बन्ध में कालिदास की निम्नलिखित दार्शनिक उक्ति पठनीय है—

> 'रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
> पर्युत्सुकी भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः
> तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
> भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥'

अर्थात् सुखी मनुष्य भी रम्य स्थानों को देखकर या मधुर शब्द सुनकर जो बेचैन हो उठता है उसका कारण यह है कि वह अपने अचेतन मनमें संस्कार के कारण स्थिर जन्म जन्मान्तर के प्रेम-भावों का स्मरण करता है। बहुत से भारतीय दार्शनिकों की दृष्टि में मनुष्य के वर्तमान व्यक्तित्व-विकास का मूल जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों में ढूंढ़ना चाहिए, निर्माणात्मक मनोविज्ञान से उनका उतना सम्बन्ध नहीं। कामायनी के प्रथम सर्ग 'चिन्ता' में मनु के पूर्व-काल का भी वर्णन है। देव-सभ्यता का यहाँ उपहास किया गया है। प्रसाद मानव-जीवन को अधिक महत्व देते दिखलाई पड़ते हैं। यह नये युग की विशेषता है। मनु की चिन्ता प्रवृत्ति-मूलक है। प्रसाद जी की दार्शनिकता का भी यह एक महत्वपूर्ण अंग है कि वे प्रवृत्ति को प्रधानता देते हैं, निवृत्तिको नहीं। किसी कार्य में प्रवृत्ति बिना आशा के नहीं हो सकती, इस-

लिए दूसरा सर्ग है 'आशा' इसमें प्रकृति की सुषमा का चित्रण हुआ है। प्रकृति का संदेश भी आशाप्रद ही है। बाह्य प्रकृति का इसमें सुन्दर निरूपण हुआ है।

आशा का ही व्यक्त रूप है 'श्रद्धा'। श्रद्धा मनोवृत्ति भी है और कामायनी नारी भी है। वही आशा मानव जीवन में नारी के रूप में प्रकट होती है। इसीलिए कामायनी का दूसरा नाम श्रद्धा है। मनु और श्रद्धा का अब युगपत् विकास दिखाया गया है। यहाँ से केवल पुरुष की कथा नहीं है। सन्यासमूलक प्रवृत्तियों का परित्याग कर यहाँ से निश्चित प्रवृत्तिकी तरफ यह काव्य उन्मुख होता है। दोनों के साक्षात्कार के पश्चात् 'काम' का प्रकरण है। प्रसादजी ने काम को कामायनी का पिता माना है। 'काम' का बहुत ही व्यापक अर्थ में प्रयोग यहाँ हुआ है। 'काम' इच्छा वाचक शब्द है। जितनी तरह की इच्छाएं मनुष्य में हैं, वे सब 'काम' के अन्तर्गत हैं, पर मनुष्य काम के यथार्थ स्वरूप को न समझ प्रायः उसके विकृत पक्ष की तरफ खिंच जाता है। मनु का भी यही हाल हुआ था, इसलिए 'काम' ने फटकार सुनायी थी—

"पर तुमने तो पाया सदैव
उसकी सुन्दर जड़ देह मात्र।
सौन्दर्य-जलधिसे भर लाये,
केवल तुम अपना गरल-पात्र॥

× × ×

तुमने तो प्राणमयी ज्वालाका
प्रणय-प्रकाश न ग्रहण किया।
हाँ जलन- वासनाको जीवन
भ्रम-तममें पहला स्थान दिया॥"

कामका यह दुरुपयोग 'वासना' के रूप में प्रकट होता है जो कामका परवर्ती सर्ग है। 'वासना' में शारीरिक आकर्षण की प्रधानता दिखाई है। इसमें नारी पुरुष के प्रति आत्म-समर्पण को ही अपने जीवन का अपरिहार्य अंग समझती है। यहीं से कथा का दुःखान्त-स्वरूप प्रकट होता है। नारी का आत्म-समर्पण ही मनु का उद्धार करेगा, नारी के इस आदर्शवाद का भी यहाँ संकेत है। तो क्या प्रत्येक पुरुष और नारी के जीवन में यह समय आता है? बाद में 'लज्जा' सर्ग है। पुरुष से प्रथम संसर्गका परिणाम नारी में लज्जा का उदय है। 'कर्म' में श्रद्धा की लज्जा का आवरण भी जाता रहता है, नारी और पुरुष प्रणय-व्यापार में प्रवृत्त हो जाते हैं। श्रद्धा पशुओं से भी प्रेम करती है, अपनी सन्तान के लिए बेंत का झूला भी बनाती है किन्तु मनु श्रद्धा के समस्त प्रेम का उपभोग एकाकी ही करना चाहते हैं, इसलिए उनके

हृदय में श्रद्धा के प्रति 'ईर्ष्या' उत्पन्न हो जाती है और वे श्रद्धा को छोड़ 'इड़ा' की ओर चले जाते हैं। वासना हिंसात्मक कार्यों की ओर प्रवृत्त करती है, हिंसा ईर्ष्या की ओर ले जाती है और ईर्ष्या के मूल में असंतोष का भाव रहता है—ऐसी अवस्था में मन भौतिक बुद्धि की ओर बढ़ता है श्रद्धा ही वह वृत्ति है जो चंचल मनको एकाग्रता देती है। श्रद्धा के अभाव में बुद्धि समन्वित मनका अवश्यंभावी परिणाम है 'संघर्ष जो मनको अवसादपूर्ण बना देता है। 'संघर्ष' के पहले जो श्रद्धा का 'स्वप्न' दिखलाया गया है उसका कारण यह है कि 'स्वप्न का ही प्रत्यक्ष रूप संघर्ष में दिखलाया गया है और संघर्ष का परिणाम है 'निर्वेद'। निर्विण्ण मन किस प्रकार श्रद्धा के सहयोग से आनन्दपूर्ण हो जाता है, यही दिखलाने के लिए 'दर्शन' 'रहस्य' और आनन्द इन तीन सर्गों की आवतारणा की गई है। ये सर्ग दार्शनिक हैं। यहीं पर शैवागम दर्शन की विशेष सहायता ली गई है। 'दर्शन' सर्ग में कथा का भी कुछ अंश है। मानस के निर्मल स्वरूप का यहाँ दर्शन है—यह भी प्रतीकात्मक है। हिमालय आदि मानव जीवन के प्रतिपादक हैं। 'रहस्य' में समरसता का सिद्धान्त हैं। कर्म, भावना और ज्ञान के समन्वय के बिना जीवन में विशृंखलता अवश्यंभावी है। मानव-जीवन का परम लक्ष्य है 'आनन्द' जिसकी पूर्ति सामरस्य के बिना संभव नहीं। 'कामायनी' की अन्तिम पंक्तियाँ इस सम्बन्ध में पठनीय हैं—

> "समरस थे जड़ या चेतन सुन्दर साकार बना था,
> चेतनता एक विलसती आनंद अखंड घना था।"

१६

भूमा का तत्त्व और कामायनी

छन्दोग्य उपनिषद् के सप्तम प्रपाठक में जिस भूमा -तत्व की व्याख्या की गई है, वह अत्यन्त गूढ और गंभीर है । नारद और सनत्कुमार के प्रसंग में इस तत्व का विवेचन हुआ है । श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर वस्तु का वर्णन करते हुए अन्त में सनत्कुमार सुख पर आ पहुँचते हैं और कहते हैं:—"जो भूमा है, वही सुख है अल्प में सुख नहीं है इसलिए भूमा के विषय में ही जिज्ञासा करना उचित है ।" (त्रयोविंशखण्ड)

नारद ने कहा कि हे भगवन् ! मैं भूमा के विषय को जानना चाहता हूँ । इस पर सनत्कुमार ने उत्तर दिया—"जहाँ साधक अन्य कुछ नहीं देखता, अन्य कुछ नहीं सुनता, अन्य कुछ नहीं जानता, वह भूमा है । और जहाँ अन्य कुछ देखता है, अन्य कुछ सुनता है, अन्य कुछ जानता है, वह 'अल्प' है । जो भूमा है, वह अमृत है और जो अल्प है, वह मर्त्य है ।" नारद के यह प्रश्न करने पर कि हे भगवन् ! वह कहाँ प्रतिष्ठित है, सनत्कुमार ने उत्तर दिया था—"अपनी महिमा में, शायद महिमा में भी नहीं" । नासदीय सूक्त के अंतिम मंत्र में भी कहा गया है—

"यह विसृष्टि कहाँ से हुई, किसने की, किसने नहीं की; जो, इसका अध्यक्ष परम व्योम में रहता है, वह यह सब जानता है; या 'स्यात्' वह भी नहीं जानता ।" नारद—सनत्कुमार—संवाद तथा नासदीय सूक्त की विवेचन शैली का यह साम्य द्रष्टव्य है । उपनिषदों में जो भूमा का वर्णन किया गया है उससे ऐसा लगता है जैसे ब्रह्म अथवा 'पुरुष—सूक्त' के विराट् पुरुष का वर्णन किया जा रहा हो । जहाँ तक 'भूमा' के व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ का प्रश्न है, यह शब्द बहुत्व, अतिशयता तथा अनल्पता का बोधक है ।

स्वर्गीय प्रसाद जी ने भी कामायनी में इस शब्द का प्रयोग किया है । उदाहरणार्थ:

"विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पंदित विश्व महान;
यही दुख सुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान ।"

(श्रद्धा सर्ग)

दुःख को सभी उद्वेगजनक मानते हैं, तो भगवान ने फिर दुःख की सृष्टि ही क्यों की ? सबको सुख ही सुख देते वे ! किन्तु श्रद्धा कहती है कि इसमें भी कुछ रहस्य है । दुःख और सुख दोनों में समरसता अपेक्षित है । सृष्टि के विकास में भी दुःख-सुख दोनों मिले हैं । शिव में भी स्पन्दन की शक्ति 'इ' से ही आती है, यदि 'इ' को निकाल दिया जाय तो शव-मात्र रह जायगा । शिव शक्ति-सम्पन्न होने पर ही कार्य करते हैं, अन्यथा उनका स्पन्दन-कार्य रुक जाता है । वैसे देखा जाय तो शक्ति में शिव से विरुद्ध गुण पाये जाते हैं । शिव में स्वातन्त्र्य, आनन्द और प्रकाश है; शक्ति में अस्वातन्त्र्य, अनानन्द और अप्रकाश है । इन्हीं के मेल से यह सारी दुनिया चल रही है । विश्व में स्वातन्त्र्य के साथ अस्वातन्त्र्य, प्रकाश के साथ अन्धकार तथा आनन्द के साथ अनानन्द भी नितान्त आवश्यक है । रवीन्द्रनाथ के शब्दों में "हमारी सबसे बड़ी आशा ही यह है कि संसार में दुःख का अस्तित्व है ।"

प्रसाद ने यत्र-तत्र वैदिक शब्दों का प्रयोग किया है । 'भूमा' भी एक ऐसा ही शब्द है । 'भूमा का मधुमय दान से प्रसाद का क्या अभिप्राय हो सकता है ? इस पर विचार करना आवश्यक है । सत्य के दो रूप होते हैं (१) सत्य और (२) ऋत । सत्य का सम्बन्ध व्यक्ति से है, ऋत का समष्टि से । अपने को मनुष्य समझना तथा चींटी को चींटी या कुत्ते को कुत्ता समझना, यह व्यक्तिगत सत्य का रूप है; नहीं तो गीताकार के शब्दों में ।

"शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।"

ऋत-दृष्टि के अनुसार मनुष्य सबको समान रूप से देखता है । यह 'आत्मौपम्य-दृष्टि' ही सच्ची दृष्टि है जिसे 'ऋत' के नाम से अभिहित किया जाता है । यह 'ऋतंभरा प्रज्ञा' ही मधु है । मनुष्य जब इस स्थिति पर पहुँच जाता है तो उसकी वृत्ति को 'मधुमती वृत्ति' कहा जाता है ।

व्यक्ति-दृष्टि संकीर्ण दृष्टि है; समष्टि दृष्टि ही सच्ची दृष्टि है । ब्रह्म विभु विराट, विष्णु आदि जितने शब्द भारतीय साहित्य में प्रचलित हैं, वे सब बहुत्व एवं व्यापकता का अर्थ लिये हुए हैं । व्यक्ति केवल अपने स्वार्थ को ही लक्ष्य में रखकर सर्वदा प्रवृत्त हो तो वह अपने लिए संकुचित अहं की एक ऐसी कारा का निर्माण कर लेगा जो अन्त में जाकर उसका दम घोट देगी । बँधे हुए तालाब का पानी जिस प्रकार गँदला हो जाता है, उसी प्रकार संकीर्ण विचारों वाला व्यक्ति भी मानसिक पवित्रता से कोसों दूर रहता है ।

अपने 'मानस-दर्शन' शीर्षक लेख में श्रीरामनरेश वर्मा लिखते हैं—'कामायनी की इन पंक्तियों में 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' के अनुसार संसार को समझाने का सफल प्रयत्न है । सामान्य रूप से ज्ञात वस्तु का (निर्विकल्पक ज्ञप्ति

का) अनुसंधानपूर्वक विशेष निरूपण प्रत्यभिज्ञा कहा जाता है। इस दर्शन में शिव आनन्द स्वरूप तथा एकरस माने गये हैं जो बिना किसी उपादान के संसार की निरालंब रचना करते हैं—

निरुपादान संसारमभित्तावेव तन्वते ।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलानाथाय शूलिने ॥—शैवागम

परन्तु एकरस रहने वाले आनन्द-संदोह शिव से विषम सृष्टि का निर्माण कैसे हो सकता है ? अतः द्वंद्वात्मिका शक्ति की कल्पना की गई जिससे युक्त होने का परिणाम हुआ जगत्।

इसी से आचार्य शंकर ने सौंदर्यलहरी में कहा है—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्।
न चेदेवं देवः न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ॥

अतः विश्व का मूल है द्वन्द्व-वैषम्य। इसके उपलक्षण हैं सुःख एवं दुःख। इनमें भी दुःख व्यापक है और सुख व्याप्य। लौकिक अनुभूति इसका प्रमाण है। परन्तु इसके मूल में एक रसरूप शिव विद्यमान हैं जिनकी 'प्रत्यभिज्ञा' से समरसता आती है तथा सामरस्य की प्रतीति होने पर 'द्वैत' भी आनन्द निस्यंद हो जाता है—

जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम् ।
मित्रयोरिव दम्पत्योः जीवात्मपरमात्मनोः ॥—शैवागम

इस समरसता के आनन्द का समर्थन उपनिषद् भी करते हैं—"आनंदात्रवल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देनैव जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रत्यभिसंविशन्ति।"

उक्त अवतरणिका को ही श्रद्धा अपने वसंत के दूत को हृदयंगम कराना चाहती है। वह कहती है कि यह महान् विश्व वैषम्य से पीड़ित होने के कारण ही स्पन्दनशील है। विषमता ही इस जगत् का जीवन है। विषमता से रहित होकर एकरसत्व प्राप्त करना सृष्टि का उच्छेद ही है, क्योंकि एकरसत्व तो शिवत्व है, और जब वह द्वंद्वात्मिका शक्ति की क्रिया से रहित रहेगा तब फिर संसार कहाँ ? अतः जिस विषमता को तुम जगत् की ज्वालाओं का मूल तथा सांसारिक अभिशाप समझ रहे हो वह विश्व की स्थिति का मूल एवं ईश का वरदान है। यह वैषम्य द्वंद्वात्मक स्वभाव है अतः अलौकिक सुख-दुःख के विकास की कुंजी भी यही है। यही विषमता हमें 'भूमा' की समष्टि-दृष्टि अथवा पर प्रत्यक्ष की ऋतंभरा प्रज्ञा का आस्वाद कराती है। यह 'भूमा' बहुत्व का बोधक है। उपनिषदों में इसकी बड़ी प्रशस्ति गाई गई है—'यो वै भूमा तत्सुखम्,' 'नाल्पे वै सुखमस्ति भूमा वै सुखम्' इत्यादि। यह भूमा अनुकूल-वेदनीय तथा व्यष्टि सुख का तिरस्कार करती है, क्योंकि इससे सुख की सीमा

संकुचित हो जाती है। अतः संसार के मूल रहस्य को, अनुकूलवेदनीय तथा प्रतिकूलवेदनीय को, समान अनुभव करके दोनों में आनंदोपलब्धि करना 'भूमा' है। इसी प्रकार व्यष्टिगत सुख को समष्टि-गत सुख में पर्यवसित कर देना 'भूमा' है। यह भूमा मधुमय है। मधुमय के लिए योग-सूत्र "ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा" के व्यास-भाष्य में लिखा है:—"ऋतम्भरा प्रज्ञैव मधुः मोदमयत्वात्।" अतः जो वैषम्य भूमा-सुख का आस्वाद कराने वाला है उससे उपेक्षावृत्ति कैसी? इसी से श्रद्धा मनु को भयभीत न होकर वैषम्य में अग्रसर होने की प्रेरणा करती है।

दूसरे पद्य में वह फिर मनु से कहती है कि वैषम्य से आगे बढ़ने पर तुम्हें सदा एकरस रहने वाले शिव का दर्शन प्राप्त होगा। प्रत्येक जीव का शिव-स्वरूप होने की समरसता (शिवत्व) में नित्य अधिकार है। जिस प्रकार कारण व्यापक रह कर प्रत्येक कार्य में अनुस्यूत रहता है उसी प्रकार समरसता व्यापक होकर सबके मूल में स्थित है। जैसे समुद्र परम व्यापक होने के कारण चारों ओर से उमड़ता हुआ दिखाई पड़ता है और उसमें उठने वाली नीली लोल लहरियों के मध्य ज्योतिष्मान मणिसमूह बिखरते हुए दिखाई देते हैं वैसे ही अत्यन्त व्यापक समरसता में उठने वाली दुःख की नील लहरियों के बीच मणिगण के समान चमकीले सुखस्वप्न भंग होते रहते हैं। अतः तुम्हें क्षणिक सुख-दुःख की चिंता छोड़ कर समरसता की ओर बढ़ना चाहिए। शैवागम के अनुसार यही लोक का कल्याण भी है।"

साकेतकार भी इसी स्वर में स्वर मिला रहे हैं:—

> "जीवन में सुख-दुःख निरंतर आते-जाते रहते हैं,
> सुख तो सभी भोग लेते हैं, दुःख धीर ही सहते हैं।
> मनुज दुग्ध से, दनुज रुधिर से, अमर सुधा से जीते हैं,
> किंतु हलाहल भव-सागर का शिव-शंकर ही पीते हैं।"

१७

'प्रियप्रवास' के वियोग-वर्णन का एक रूप

प्रियप्रवास के पंचदश सर्ग में विरहिणी बाला का जो वियोग-वर्णन किया गया है, वह बड़ा भाव-मग्न करने वाला है। वह बाला कुसुम-कुल के साथ आकर विलाप करती है, भृंग के साथ बोलती है, बंशी द्वारा भ्रमित बन कर कोकिला से बात चीत करती है, प्रिय के चरण-चिह्न को उन्मना होकर देखती और उसे छाती से लगाने का निष्फल प्रयत्न करती है, अन्त में उत्कंठिता-सी होकर यमुना के किनारे आती है और उससे कहती है—

"विधि-वश यदि तेरी धार में आ गिरूँ मैं।
मम-तन ब्रज की ही मेदिनी में मिलाना।
उस पर अनुकूला हो बड़ी मंजुता से।
कल-कुसुम अनूठी-श्यामता के उगाना॥"

हे यमुने! यदि भाग्यवश मैं तेरी धार में आकर गिरूँ तो मेरे शरीर को ब्रज की मिट्टी में ही मिला देना और उस पर श्याम रंग के सुन्दर पुष्प उगाना मरण के अनन्तर भी प्रिय के साहचर्य की यह भावना अत्यन्त भव्य है। प्रेमियों की अभिलाषाओं में भी कितनी मार्मिकता होती है! जायसी की नायिका भी, देखिये, पवन से क्या कह रही है—

यहि तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग गिरि परै, कंत धरै जेहि पाव॥

अर्थात् इस शरीर को जलाकर भस्म करदूँ और पवन से कहूँ कि इस भस्म को उड़ा ले जा— शायद यह भस्म वहाँ जाकर गिर पड़े जहाँ प्रियतम के चरणों का सुयोग इसे प्राप्त हो जाय? निम्न लिखित राजस्थानी सोरठे में भी प्रकारान्तर से यही बात कही गई है—

"जाळूँ म्हारो जीव, भसमी ले भेळी करूँ।
प्यारा लागै पीव, जूण पलट्यां जेठवा॥

अर्थात् मैं अपने शरीर को जलादूँ और उसकी भस्म इकट्ठी कर लूँ। मेरा इस प्रकार जन्मान्तर होने पर इस भस्म को भी प्रिय प्यारे ही लगेंगे।

ऐसी उक्तियों को पढ़-सुनकर केवल विशुद्ध तथ्य पर दृष्टि रखने वाला व्यक्ति कह सकता है कि जब प्रेमिका स्वयं खाक हो जायगी तो खाक को क्या खाक आनन्द मिलेगा? किन्तु इस प्रकार की उक्ति पर सहृदय केवल तरस ही खायगा क्योंकि काव्य में विशुद्ध तार्किक दृष्टि से ही काम नहीं चल सकता।

काव्य में जो व्यञ्जना का आनन्द है' उसको दुर्लक्ष्य नहीं किया जा सकता। ऊपर की पंक्तियों में प्रिय के चिरसाहचर्य की जो उत्कट अभिलाषा व्यञ्जित हो रही है, उससे रसज्ञ पाठक मनोमुग्ध हुए बिना नहीं रहता।

विरहिणी बाला के वियोग वर्णन के सम्बन्ध में उपाध्यायजी ने जिस अन्य पद्धति का अवलम्बन किया है उसके कुछ उदाहरण लीजिये—

(१)

मैं होती हूँ विकल पर तू बोलता भी नहीं है।
क्या ए तेरी विपुल रसना कुण्ठिता हो गई है?
तू क्यों होगा सदय दुख क्यों दूर मेरा करेगा।
तू काँटों से जनित यदि है काठ का जो सगा है॥

(कुसुम के प्रति उक्ति)

(२)

जो होता है सुखित उसको वेदना दूसरों की।
क्या होती है विदित जब लौं भुक्त-भोगी न होवे॥
तू फूली है हरित-दल में बैठ के सोहती है।
क्या जानेगी कुसुम बनते म्लान की वेदनायें॥

(जूही के प्रति)

(३)

हा! बोली तू न कुछ मुझसे औ न भाखीं स्व-बातें
मेरा जी है कथन करता तू हुई तद्गता है।
मेरे प्यारे कुंवर तुझको चित्त से चाहते थे।
तेरी होगा न फिर दयिते! आज ऐसी दशा क्यों।

(चमेली के प्रति)

फिर बेला से कहती है कि तू भी अब तक न बोला, तू बड़ा निर्दयी है। मैं भी कैसी विवश हूँ जो व्यर्थ ही तुमसे बोलती हूँ। जब किसी के खोटे दिन आते हैं और भाग्य फूटता है, तब पृथ्वीतल में कोई उसका साथ नहीं देता। इसी प्रकार चम्पा, केतकी, बन्धूक, श्याम-घटा प्रसून, भ्रमर, मुरली, कृष्ण के चरण-चिह्न आदि सभी को संबोधित कर विरहिणी बाला उनकी सहानुभूति को अपनी ओर आकृष्ट करने का निष्फल प्रयत्न करती है। कोकिला को संबोधित करके वह कहती है:—

परन्तु तू तो अबलौं उड़ी नहीं,
प्रिये-पिकी क्या मथुरा न जायगी?
न जा, वहाँ है न पधारना भला,
उलाहना है सुनना जहाँ मना॥

आज से हजारों वर्ष पहिले पुराकाल के उस महाकवि ने अपने 'विक्र-

मोर्वशीय' नाटक में वियोग वर्णन की इसी पद्धति का आश्रय लिया था। तुलनात्मक विवेचन के लिए उक्त नाटक के चतुर्थ अङ्क से कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जा रही हैं—"(उर्वशी के वियोग में राजा की उक्ति)—अरे मोर ? मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि यदि घूमते-फिरते तुमने मेरी खोई हुई प्रिया को कहीं देखा हो तो मुझे बतादो····अरे, यह तो बिना उत्तर दिये ही नाचने लगा। अरे रे रे ! मीठी-मीठी कूकती हुई सुन्दर कोयल, यदि इस नन्दन वन में मन चाहे ढंग से उड़ती फुदकती हुई तुमने कहीं मेरी प्रिया देखी हो तो बतादो।······अरे, यह क्या ! मेरी बात पूरी होने से पहले ही यह अपने धन्धे में लग गई। दूसरे का दुख कितना भी अधिक हो, पर लोग उसे कम ही समझते हैं। हे जल-पच्छिराज ! तुम मानसरोवर पीछे जाना और यह जो संबल के लिए तुमने कमलनालें तोडली हैं, इन्हें अभी छोड़ दो, फिर ले लेना। पहले तुम मुझे मेरी प्यारी का समाचार देकर मेरा उद्धार करो, क्योंकि सज्जन लोग अपने मित्रों को सहायता देना अपने स्वार्थ से बढ़ कर समझते हैं। अरे ! यह तो केवल अपनी चोंच ऊपर उठाये टुकुर-टुकुर देख रहा है, मानों यह कह रहा है कि मान सरोवर जाने की उतावली में मैंने उसे देखा ही नहीं। चकवा भी जब कोई उत्तर नहीं देता तो पुरुखा कहता है—"मेरा भाग्य ही ऐसा है कि सब कहीं से मुझे उल्टा ही फल रहा है।" इसी प्रकार राजा भ्रमर, गज, पहाड़, नदी, हरिणी, अशोक आदि से उर्वशी का पता पूछता है। हरिन को सम्बोधित करके पुरुखा कह रहा है—"क्यों जी हरिणी के स्वामी ! क्या तुमने मेरी प्यारी को बन में कहीं देखा ? मैं तुम्हें उसका रूप-रंग बताए देता हूँ। सुनो, ठीक जैसी तुम्हारी हरिणी अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से सुन्दर चितवन डालती है वैसे ही वह भी डालती है। क्या वह मेरी बात अनसुनी करके अपनी हरिणी की ओर मुँह करके बैठ गया ? ठीक ही है—जब दिन खोटे आते हैं तो सभी दुरदुराते हैं।"

विरहिणी बाला के प्रसंग को लेकर उपाध्यायजी ने भी वियोग-वर्णन की जिस सम्बोधनात्मक पद्धति का अवलम्बन लिया है, उस पर निश्चय ही काली-दासीय छाप है। कवि कुलगुरु से न जाने कितने हिन्दी के (हिन्दी के ही क्यों, अन्य भारतीय भाषाओं के भी, अन्य भारतीय भाषाओं के ही क्या, गेटे जैसा कलाकार भी अभिज्ञान शाकुन्तल पर मुग्ध था और उसकी प्रारम्भ-शैली को उसने अपनी कृति में ग्रहण भी किया था) कितने कवि प्रभावित हुए हैं। यह तो एक स्वतन्त्र अध्ययन का ही विषय है।

उपाध्याय जी ने अपने प्रिय-प्रवास में तथा कवि कुलगुरु ने 'विक्रमोर्वशीयम्' नाटक में वियोग-वर्णन की जिस पद्धति का आश्रय लिया है, वह

मार्मिक है, इसमें सन्देह नहीं और इस मार्मिकता का मुख्य हेतु है मानव का मानवेतर सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न । मानव का राग सीमाबद्ध होकर कुण्ठित हो जाता है, प्रसार में ही उसे आनन्द की उपलब्धि होती है । इस तरह का वियोग-वर्णन स्वाभाविक है अथवा अस्वाभाविक, इस तरह का प्रश्न भी कभी-कभी उठाया जाता है। दुःख में मनुष्य सहानुभूति का संग्रह करना चाहता है, यह जीवन का एक निर्विवाद तथ्य है जिसकी ओर हमारा ध्यान गये बिना नहीं रहता । उस सहानुभूति की अभिव्यञ्जना के लिये कविगण किसी भी पद्धति का अवलम्बन करें, उस तथ्य की वास्तविकता में कोई अन्तर नहीं पड़ता । काव्य में विशाल मानवात्मा ही अपने आपको भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट कर रही है और उन रूपों की कोई गणना नहीं। हृदय समुद्र की लहरियाँ भी अनन्त हैं और उनके रूप भी अनन्त हैं ।

१८

'साकेत' के वियोग वर्णन की विशिष्टता

साधारणतः विरह-वर्णन में देखा जाता है कि विरही जन समस्त उद्दीपन विभावों को उपालम्भ देकर कोसा करते हैं। द्विजराज चन्द्रमा को कसाई कह देना तो कोई बात ही नहीं, और भी न जाने क्या क्या नहीं कहा जाता। किन्तु 'साकेत' की उर्मिला इस विचार के विरुद्ध मानों विद्रोह करती है। सूरदास की गोपियां जहां कहती हैं:—

"मधुवन तुम कत रहत हरे ?
विरह-वियोग श्याम सुन्दर के ठाढे कस न जरे।

वहाँ इसके विरुद्ध उर्मिला की उक्ति है:—

"सीचें ही बस मालिनें कलश ले, कोई न ले कर्त्तरी,
शाखी फूल फलें यथेच्छ बढ़के, फैलें लतायें हरी।
क्रीड़ा-कानन शैल यन्त्र-जल से, संसिक्त होता रहे।
मेरे जीवन का, चलो सखि, वहीं सोता भिगोता बहे।"

वियोग वेदना के कारण उर्मिला की हृदय-वृत्ति बहुत कोमल हो गई है। उसका आदेश है कि मालिनें कलश लेकर केवल पौधों की सिंचाई का काम करें, कैंची लेकर कोई उन्हें कतरे नहीं। वृक्ष यथेच्छ बढ़कर फूलें-फलें और हरी-भरी लतायें फैलती रहें। क्रीड़ा-कानन का पर्वत भी फव्वारे के जल से सींचा हुआ रहे और हे सखि ! चलो, मेरे जीवन का सोता भी भिगोता हुआ बहता चले।

इसी प्रकार की एक दूसरी उक्ति और लीजिए:—

"हँसो हँसो हे शशि, फूल फूलो, हँसो हिंडोरे पर बैठ झूलो !
यथेष्ट मैं रोदन के लिए हूँ, झड़ी लगा दूँ, इतना पिये हूँ॥"

इस तरह का वियोग वर्णन मेरी दृष्टि में हिन्दी साहित्य को गुप्त जी की ही देन है। पुराने कवियों की परिपाटी से यह सर्वथा भिन्न है और मानव जीवन के एक प्रकृत तथ्य पर आश्रित है। भुक्त-भोगी जानते हैं कि जीवन के नभोमण्डल में जब काले बादलों की घटा घिर आती है, उस समय मनुष्य का अभिमान विनम्र रूप धारण कर लेता है और उसकी वृत्ति में कारुण्य भाव जाग्रत होने के कारण उसे इच्छा होने लगती है कि मैं भी किसी का दुःख बँटा पाता।

इस सम्बन्ध में हिन्दी के सुकवि श्री नरेन्द्र जी की निम्नलिखित पंक्तियाँ पठनीय हैं:—

प्रभु ! अतुलित तम जगती का, मेरे मानस में भरदो ।
घर घर में, नगर नगर में, दीपित हों दीपावलियाँ ।
विधना ! जग में यदि दुख है, मुझको देदो जग का दुख,
ये तो सब सुख से खेलें, खेलें जग में सुख निधियाँ,
इनको दो प्रभु ! मुसकानें, मंगल-गायन की तानें ।
मेरी आँखों में भर दो, धुँधली आँसू की लड़ियाँ ।
चिन्ता, उर-शूल, यातना दो, ये मेरे जीवन की ।
जग हो प्रभु नन्दन कानन, क्रीड़ित हों स्वर्णिम परियाँ ।
मैं अविरत दुख सह लूँगा, सह लूँगा सभी व्यथायें ।
जग में सुख ही सुख भरदो, हों मेरी दुख की घड़ियां ।"

उर्मिला यदि अपने प्रियतम से विमुक्त है तो उसकी यह इच्छा कदापि नहीं होती कि और किसी को भी वियोग का दुख सताये । 'लाल' नामक पक्षियों को सम्बोधित करके वह कहती है—

मेरे उर अंगार के, बने बाल-गोपाल ।
अपनी मुनियों से मिले, पले रहे तुम लाल ॥

हे लाल पक्षियो ! तुम मेरे हृदय के अंगार के टुकड़े से जान पड़ते हो, मेरे हृद्गत ताप के तुम व्यंजक हो— अपनी मुनियों से मिले हुए तुम यहीं पले रहो ।

नृत्य करते हुए मयूर को देखकर उर्मिला कहती है कि हे सखि ! उधर न जाना, उस मयूर को सुखी होकर नृत्य करने दे । तेरे उधर जाने से कहीं उसके नृत्य में बाधा न पड़े । अब तो एक मात्र यही मेरा इष्ट रहता है कि दूसरों के सुख में किसी प्रकार बाधा न पहुँचे ।

न जा उधर हे सखि, वह शिखी सुखी हो, नचे,
न संकुचित हो कहीं, मुदित लास्य-लीला रचे ।
बनूं न पर-विघ्न मैं, बश मुझे अबाधा यही ।
विराग-अनुराग में अहह ! इष्ट एकान्त ही ।

उर्मिला अपनी सखि से कहती है कि तू मकड़ी को न हटा, वह सहानुभूति वश इधर आई है । हम दोनों की समान दशा है, जहाँ वह अपने जाले में फँसी हुई है, वहाँ मैं भी दुःख के जाल में पड़ी हूँ !

सखि, न हटा मकड़ी को, आई है वह सहानुभूति वशा ।
जाल-गता मैं भी तो, हम दोनों की यहाँ समान दशा ।

वियोग कालीन इस कारुण्य-भावकी अभिव्यक्ति केवल 'साकेत' में ही नहीं, 'यशोधरा' में भी देखी जा सकती है । उदाहरणार्थः—

बलि जाऊँ बलि जाऊँ चातकी, बलि जाऊँ इस रट की,
मेरे रोम रोम में आकर, यह काँटे सी खटकी ।

भटकी हाय ! कहाँ घन की सुध, तू आशा पर अटकी ।
मुझसे पहले तू सनाथ हो,यही विनय इस घट की ।

अन्तिम पंक्ति को मैंनेजान बूझ कर रेखांकित किया है । उर्मिला के हृदय का कारुण्य-भाव इस पंक्ति द्वारा स्पष्ट हो रहा है । मनुष्य यदि एकान्त सुख का अनुभव करे तो वह दूसरों के दुःख दर्द को कभी नहीं समझ सकेगा, उसकी वृत्तियों में भी कोमलता न आ पायगी । आँसू में प्रसाद जी यथार्थ ही कह गए हैं:—

"खाली-न-सुनहली संध्या, माणिक मदिरा से जिनकी ।
वे कहाँ भला समझेंगे, दुख की घड़ियाँ दो दिन की ॥

यहाँ पर एक प्रश्न उठाया जा सकता है—अपने पर दुःख आने से क्यों मनुष्य स्वयं कष्ट सह कर भी पर-सुख की इच्छा करने लगता है ? जैसा कि ऊपर कहा गया है, सुख के क्षण मनुष्य के मन में अभिमान के भाव जागृत करते हैं, दुःख के क्षण उसको करुणार्द्र बनाते हैं । दुःख की अवस्था में आत्मा का विस्तार होता है जिसके कारण सभी प्राणियों के प्रति सहानुभूति का भाव जागृत होता है । कुछ विचारकों का कहना है कि दुःख के समय मनुष्य को अपने जीवन की निःसारता का अनुभव होने लगता है, इसलिए वह पर-हित की ओर प्रेरित होता है । कुछ लोगों की मान्यता है कि दुःख के समय हम दूसरों को सुखी देखने की इच्छा जब प्रकट करते हैं तो यह अज्ञात इच्छा हमारे मन में घर किए रहती है कि इस पर हितैषिता के कारण शायद हमारा दुःखद वर्तमान भी कभी सुखद भविष्य का रूप धारण करले ।

दुःख में मनुष्य पर-सुख की इच्छा क्यों करता है, इसका कारण चाहे जो हो; किन्तु है यह एक जीवन का तथ्य जिसकी ओर हिन्दी के यशस्वी कवि श्री मैथली शरण गुप्त ने उर्मिला और यशोधरा के वियोग-वर्णन द्वारा हमारा ध्यान आकृष्ट किया है । इस तरह का वियोग वर्णन यदि हिन्दी अथवा अन्य किसी साहित्य में मिलता हो तो विज्ञ आलोचकों से मेरा साग्रह निवेदन है कि वे इस पर सविस्तार प्रकाश डालें ।

———

१६

सूर-काव्य में लौकिक-अलौकिक

जिस यथार्थता के साथ गुप्तजी ने कहा है—

'राम, तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है
कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है।'

संभवतः उससे अधिक यथार्थता के साथ कहा जा सकता है 'कृष्ण तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है।' किन्तु वस्तुतः देखा जाय तो न तो राम-चरित के सम्बन्ध में, न कृष्ण-चरित के सम्बन्ध में यह सहज संभव है कि कोई कवि बन जाय। यदि ऐसा होता तो हिन्दी साहित्य में सहस्रों तुलसीदास और सूरदास अब तक हो गये होते। कवि-कर्म असल में बड़ा दुष्कर है। हिन्दी साहित्य में बाल चरित्र के चित्रण में सूरदास की समता का कोई कवि नहीं; तुलसी ने भी राम का बाल-चरित्र अंकित किया है पर सूरदास की-सी सरसता वे भी नहीं ला सके। बाल स्वभाव का हूबहू चित्र खींच देने में सूरदास को कमाल हासिल है। बाल-स्वभाव का उन्होंने ऐसा सूक्ष्म निरीक्षण किया है कि श्रीकृष्ण की बाल-लीला पढ़ते-पढ़ते माता-पिता उसे अपने ही अनुभव का वर्णन समझकर उसमें लीन हो जाते हैं। पढ़ते समय वे स्मृति पट पर बाल चरित्र का चित्र देखते हुए यह भूल जाते हैं कि वे सूरदास की कविता पढ़ रहे हैं। ऐसा अद्भुत साधारणीकरण जिस महाकवि के काव्य द्वारा हो सकता है उस कवि की वाणी को नमस्कार है।

सूर के कृष्ण अलौकिक हैं स्वयं भगवान है। ऐसे अलौकिक पात्र में इतनी स्वाभाविकता का समावेश कर देना सरल काम नहीं है। जहाँ तक बाल-स्वभाव के चित्रण का सम्बन्ध है, सूरसागर में लौकिक तथा अलौकिक का असाधारण सामंजस्य देखने को मिलता है। किन्तु यह सामंजस्य सर्वत्र दृष्टिगोचर नहीं होता। सूरसागर से एक ऐसा ही पद लीजिये—

कर गहिं पग अँगूठा मुख मेलत।
प्रभु पौढ़े पालने अकेले,
हरषि हरषि अपने रंग खेलत।
सिव सोचत विधि बुद्धि विचारत,
बट बाढ़्यो सागर जल झेलत।
बिडरि चले घन प्रलय जानिकै,
दिगपति दिगदन्ती न सकेलत।

मुनि मन भीत भये भव कंपित,
सेस सकुचि सहसौ फन फेलत।
उन ब्रजवासिन बात न जानी,
समुझे सूर सकट पगु पेलत ॥

अर्थात पैर के अँगूठे को हाथ से पकड़ कर कृष्ण मुँह में ले रहे हैं। कृष्ण पलने में अकेले सोये हुए हैं और हर्षित हो होकर अपने ही रंग में मस्त खेल रहे हैं। कृष्ण के ऐसा करने से प्रलय का दृश्य उपस्थित हो जाता है। शिव सोचते हैं आज यह असमय प्रलय कैसा ? सृष्टि-संहार करने वाला प्रलयंकर रुद्र तो मैं हूँ ! ब्रह्मा की बुद्धि भी हैरान है। अक्षयवट भी बढ़ रहा है और समुद्र का जल भी अपनी मर्यादा का अतिक्रमण करके बहने लगा है। प्रलय के बादल भी प्रलय हुआ जान भयभीत होकर चलने लगे हैं, दिग्पाल अपने अपने हाथियों को सम्हाल नहीं पाते। मुनियों के मन भयभीत हो गये हैं, संसार कंपित है, शेष अपने हजार फणों को सिकोड़ कर पृथ्वी को धारण करने की चेष्टा में जुटा हुआ है किन्तु ब्रजवासियों को कुछ पता भी न चला; उन्होंने केवल यह समझा कि कृष्ण ने छकड़े को लात से पेल दिया है।

सूर के इस पद में अलौकिक तत्त्व का समावेश हुआ है। कृष्ण के सर्वातिशायी आतंक को प्रकट करने वाला यह विराट् पद है। कहते हैं, मार्कण्डेय मुनि ने तप करके भगवान से वरदान माँगा था कि मुझे प्रलय का दृश्य दिखलाइये। भगवान ने मायाकृत प्रलय का दृश्य उपस्थित किया। उस समय सर्वत्र जल ही जल था। जब मार्कण्डेयजी तैरते-तैरते थक गये तब देखा कि प्रयाग में अक्षयवट के एक पत्र पर बालमुकुन्द रूप से भगवान लेटे हैं और अपने पैर का अंगूठा पी रहे हैं। कृष्णावतार में जब श्रीकृष्ण अँगूठा चूसने लगे तो सबको भय हुआ कि वही प्रलय का भयंकर दृश्य उपस्थित हो गया।

ऊपर के पद में अलौकिक तत्त्व की ही प्रधानता है, लौकिक पक्ष तो केवल इतना ही है कि बालक अँगूठा मुँह में लेकर चूसते रहते हैं किन्तु इस प्रकार के पदों से साधारणीकरण नहीं हो सकता। ऐसे असाधारण बालक के लिए माता-पिता कैसे समझें कि वे अपने ही बालककी चेष्टाएँ देख रहे हैं। भक्त कवि सूरदास की दृष्टि में ऐसे पद बड़े महत्त्व पूर्ण रहे होंगे। अपने इष्टदेव के व्यापक प्रभाव को दिखलाना कवि का लक्ष्य रहा होगा किन्तु संभवत: इसमें दो मत न होंगे कि ऐसे पदों में साधारणीकरण न हो सकने के कारण काव्यत्व खो जाता है। आज के बुद्धिजीवी पाठक तो भक्त कवि की भावनाओं से अपना तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाते। हाँ, निराला जी ने अवश्य इस पद की दार्शनिक व्याख्या करते हुए कहा है 'बालक श्रीकृष्ण अपना

अँगूठा मुँह में डाल रहे हैं और इससे तमाम ब्रह्माण्ड डोल रहा है—दिग्दंती अपने दांतों से दृढ़तापूर्वक धरा-भार के धारण का प्रयत्न कर रहे हैं। इन पंक्तियों में भक्तराज सूरदास जी का अभिप्राय यह है कि किसी केन्द्र के चेतन स्वरूप से तमाम संसार, संपूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड के प्राणी गुंथे हुए हैं, इसलिए उसके हिलने से यह सौर संसार भी हिलता है। दिग्गजों और शेषजी को धारण करने की शक्ति दी गयी है, ताकि प्रलय न हो जाय। इसलिए श्रीकृष्ण की मुख में अँगूठा डालने की चेष्टा से हिलते हुए तमाम चेतन संसार को शेष और दिग्गज अपनी धारणा शक्ति से बार-बार धारण करते हैं। इस चेतन के कंपन-गुण से कहीं-कहीं खंड-प्रलय हो भी जाता है।

यह सच है कि सूरसागर में असंख्य पद ऐसे हैं जिनसे पाठकों का साधारणीकरण हो जाता है किन्तु अलौकिक पदों का भी सूरसागर में नितांत अभाव नहीं है—ऐसे पदों का जिनमें काव्य खो जाता है और सूरदास की भक्ति-भावना प्रमुख हो उठती है। हिन्दी के आलोचक सूर काव्य के लौकिक और अलौकिक पक्ष का विशद वैज्ञानिक विवेचन करें तो आलोचना का यह पक्ष और भी पुष्ट हो सके।

२०

ट्रेजेडी पर रवीन्द्र और रिचर्ड्स के विचार

यह संसार इच्छाओं का क्रीड़ा-स्थल है जिसमें तीन महती इच्छाएँ अपना अविरत नृत्य करती हुई देखी जा सकती हैं। पहली इच्छा है जीवन की इच्छा। हमेशा बने रहने की इच्छा मनुष्य के लिए इतनी स्वाभाविक है कि वह मृत्यु के बाद भी जीवित रहना चाहता है। कुछ मनुष्य संतान के रूप में, कुछ कला-कृतियों के रूप में तथा कुछ ताजमहल जैसी भव्य इमारतों के रूप में जीते चलते हैं। देश-प्रेम की बलिवेदी पर जो अपने प्राण निछावर कर देते हैं, वे भी मर कर अमर हो जाना चाहते हैं।

दूसरी इच्छा है ज्ञान प्राप्ति की इच्छा। जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त मनुष्य ज्ञानार्जन करता है; बच्चे की जिज्ञासा-वृत्ति भी इसी ज्ञानवर्धन का एक अंग है। कोई भी नया अनुभव जब हम प्राप्त करते हैं तब हमारे ज्ञान की वृद्धि होती है। जीवन में जब नये-नये अनुभव नहीं होते तो नीरसता आने लगती है। तीसरी बड़ी इच्छा है आनन्द-प्राप्ति की इच्छा जिसके सम्बन्ध में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। संसार में कौन ऐसा है जो आनन्द प्राप्त नहीं करना चाहता?

यहाँ पर एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उपस्थित हुए बिना नहीं रहता—दुःखात्मक नाटकों या फिल्मों को भी देखना हम क्यों पसन्द करते हैं? क्या उनसे भी आनन्द मिलता है और यदि मिलता है तो उसका कारण क्या है? साहित्य का यह एक चिरन्तन प्रश्न है जिस पर प्राचीन युग के अरस्तू से लेकर आधुनिक युग के रवीन्द्रनाथ तक ने विचार किया है। वियोगान्त नाटकों का संयोगान्त नाटकों की अपेक्षा अधिक मूल्य क्यों है? दुःख यदि अप्रिय है तो साहित्य में उसे उपभोग्य क्यों ठहराया गया है? इस प्रश्न पर विचार करते हुए श्री रवीन्द्रनाथ लिखते हैं कि दुःख अप्रिय नहीं, इसका प्रमाण स्वयं साहित्य है। जो वस्तु हमारे मन पर जबरदस्त छाप छोड़ जाती है, उसका प्रभाव भी बड़ा प्रबल होता है। जिस वस्तु का हम विशेष रूप से अनुभव करते हैं, उसके द्वारा हम अपने आपको ही प्राप्त करते हैं। यह आत्म-संप्राप्ति ही आनन्द है। यदि चारों ओर हमारे अनुभव का विषय कुछ न रह जाय तो हमारे लिए यह एक प्रकार की मृत्यु होती, अथवा यदि ऐसी परिस्थिति बनी

रहे जिसके कारण औत्सुक्य का अभाव अथवा क्षीणता उत्पन्न हो तो इससे अवसाद ही का जन्म होगा।

यहाँ पर 'आत्म-संप्राप्ति' को थोड़ा समझने की कोशिश करें। ऊपर तीन बड़ी इच्छाओं का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि ज्ञान-वृद्धि की इच्छा भी मनुष्य की महती इच्छा है, और प्रत्येक नया अनुभव हमारे ज्ञान को समृद्ध बनाने में सहायक होता है। यहाँ यह भी पूछा जा सकता है कि मनुष्य क्यों अपना ज्ञान बढ़ाना चाहता है और क्यों वह नये-नये अनुभव प्राप्त करना चाहता है? अध्यात्मवादी दार्शनिकों के मतानुसार आत्मा है ही ज्ञान स्वरूप-ज्ञानमय और ज्ञान का अमित भाण्डार। इसलिए ज्ञान-वृद्धि द्वारा यदि मनुष्य अपने असली स्वरूप को प्राप्त करने का प्रयत्न करे तो ऐसा करना उसके लिए अत्यन्त स्वाभाविक है। सबकी अपेक्षा दुःख की अनुभूति हमें सचेत बनाये रखती है किन्तु संसार में दुःख के साथ क्षति एवं आघात भी लगा रहता है, इसलिए हमारा प्राण पुरुष दुःख की संभावना के कारण कुंठित हो उठता है। किन्तु साहित्य में जीवन यात्रा के आघात और क्षति का अभाव होने के कारण हम विशुद्ध अनुभूति का उपयोग कर सकते हैं। गल्प में भूत के भय की अनुभूति से बच्चे पुलकित हो उठते हैं क्योंकि बना दुःख का मूल्य चुकाये उनका मन इस प्रकार की अनुभूति से परिचय प्राप्त कर लेता है। काल्पनिक भय के आघात से भूत उनके निकट वास्तव हो उठते हैं और यही वास्तव की अनुभूति भय के योग से ही आनन्दजनक होती है। इससे स्पष्ट है कि भय की अनुभूति तो हम करना चाहते हैं किन्तु भय का बिना मूल्य चुकाये। साहसी लोग अकारण ही एवरेस्ट के शिखर पर चढ़ने का प्रयत्न करते हैं। उनके मन में भय नहीं, भय के कारण की सम्भावना में ही उनको निबिड़ आनन्द प्राप्त होता है। हमारे मन में भय है तो हम दुर्गम पर्वत पर चढ़ने नहीं जायँगे किन्तु दुर्गम यात्रियों के विवरण को घर बैठे पढ़ना पसन्द करेंगे क्योंकि इससे विना विपत्ति की आशंका के विपत्ति का स्वाद मिल जाता है। जो भ्रमण वृत्तान्त यथेष्ट भीषण नहीं है, उसे पढ़ने को जी नहीं करता। वस्तुतः प्रबल अनुभूति-मात्र ही आनन्दजनक है क्योंकि उस अनुभूति के द्वारा प्रबल रूप में हम अपने आपको जान पाते हैं। साहित्य जगत् में हम अनेक रूपों में अपने आपको जान पाते हैं और वहाँ हमारा कोई दायित्व है नहीं। साहित्य में मनुष्य के आत्म-परिचय के सहस्रों निर्झर प्रवाहित होते रहते हैं-कुछ पंकिल, कुछ स्वच्छ, कुछ क्षीण और कुछ परिपूर्णप्राय।

साहित्य में दो बातें विशेषतः देखी जाती हैं। एक वह वस्तु है जो मनुष्य के मन पर विशेष रूप से अपनी छाप छोड़ जाती है। वह हास्यकर हो

सकती हैं, अद्भुत हो सकती है, सांसारिक आवश्यकता के अनुसार अकिंचित्कर भी हो सकती है। दैनिक व्यवहार में मंथरा जैसी कुबड़ी दासी को हम देखना पसन्द नहीं करेंगे किन्तु साहित्य में 'ठीक है' कह कर हम उसे स्वीकार कर लेते हैं। असंख्य व्यापार इस जगत् में हो रहे हैं किन्तु सब हमारे मन पर अमिट छाप नहीं छोड़ जाते।

दूसरी बात यह है कि मनुष्य जिसकी इच्छा करता है साहित्य उसको रूप देता है। संसार अपूर्ण है, भले के साथ यहाँ बुरे हैं। हमारी आकांक्षा पूर्णतः संतुष्ट नहीं हो पाती। साहित्य में मनुष्य अपनी आकांक्षा की पूर्ति करता है। अपनी इच्छा के अनुसार मूर्त स्वरूप खड़ा करके वह अपने क्षोभ को मिटाता है। मनुष्य की महती इच्छा को जो साहित्य मूर्त रूप देता है और मनुष्य के आंतरिक मन को उदात्त बनाता है, उस साहित्य को युग-युग का सम्मान प्राप्त होता है।

आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार हमारे किसी भी विचार का नाश नहीं होता। मानवी आकांक्षाओं के तीन मार्ग सामान्यतः दिखलाई पड़ते हैं—

(१) मनुष्य इस प्रकार का कार्य करता है जिससे वह अपनी आकांक्षाएँ पूरी कर सके, किन्तु उसकी सभी इच्छाएँ पूरी नहीं हो पातीं। (२) अचेतन मन में कुंठित अथवा अतृप्त इच्छाएं अपना स्थान बना लेती हैं। (३) इच्छाओं का उन्नयन किया जा सकता है। नारी के प्रेम में अनुरक्त तुलसीदास राम के प्रेम में तल्लीन हो जाते हैं; आकर्षण का केन्द्र-बिन्दु बदल जाता है और आकांक्षाएं उदात्त जीवन की ओर उन्मुख हो जाती हैं। पता नहीं, सुख का निवास-स्थान कहाँ है? कुछ लोग आकांक्षा की तृप्ति में सुख का अनुभव करते हैं किंतु पन्त, महादेवी वर्मा, गोस्वामी तुलसीदास आदि कवियों ने इस तरह के विचार प्रकट किये हैं जिनमें अतृप्त आकांक्षा में ही जीवन की सार्थकता देखी गयी है। उदाहरणार्थ:—

१—उठ-उठ लहरें कहतीं यह
हम कूल विलोक न पावें
बस इस उमंग में बह-बह
नित आगे बढ़ती जावें ॥—पन्त

२—प्यास ही जीवन, सकूंगी तृप्ति में
मैं जी कहाँ ?—महादेवी वर्मा

३—प्रेम तृषा बाढ़ति भली,
घटे घटेगी आनि ।-तुलसीदास

कुंठित इच्छाएँ भी सुखका कारण नहीं हो सकतीं। कुंठित इच्छाएँ तो मनुष्य के मस्तिष्क को विकृत कर डालती हैं। इच्छाओं को उदात्त मार्ग

की ओर उन्मुख कर डालना भी तो वस्तुस्थिति से बचने का प्रयास ही कहा जायगा। तो क्या आकांक्षाओं का समूल नाश ही सुख का कारण है? क्या ऐसा मनुष्य देखने में आता है जो अपने समस्त मनोरथों को चकनाचूर कर आशा-आकांक्षाओं से रहित हो गया हो?

सुख वास्तव में समन्वय अथवा सामञ्जस्यमें है। यह त्रिगुणात्मिका सृष्टि ही सच पूछा जाय तो, द्वन्द्वात्मक है। यहाँ सुख दुःख, पाप-पुण्य, प्रेम-द्वेष के द्वन्द्व चलते ही रहते हैं। किसी भी अतिवाद के अवलम्बन में सुख नहीं, सुख है विरोधी भावों के समन्वय में। हरएक वस्तु के दो पहलू होते हैं—एक ही पहलू को कट्टर पन से अपना लेने पर संकीर्णता और एकांगिता आ जायगी जो किसी भी प्रकार वांछनीय नहीं।

समन्वय की इस व्याख्या के अनन्तर हम साहित्य के एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार कर सकते हैं। दुःखात्मक नाटक अथवा काव्य के दर्शन-पठन से आनन्द क्यों मिलता है? इस प्रश्न पर नाना मनीषियों के नाना मत हैं। तत्त्वान्वेषी समीक्षक रिचर्ड्सने इस विषय पर जो विचार प्रकट किये हैं वे बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। उनके मतानुसार दुःखात्मक नाटकों में विरुद्ध और असंगत गुणों का जैसा सन्तुलन अथवा सम्मिलन होता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। करुणा और भय दो परस्पर विरोधी गुण हैं जिनका दुःखात्मक रचनाओं में परस्पर समझौता देखा जाता है। एक अच्छे पात्र के दुःख को देखकर दया भी आती है और दुःखों की भीषणता भयभीत भी कर देती है। हम पर भी ऐसा ही दुःख आ पड़ता तो न जाने क्या होता—इस विचार से हम काँप भी उठते हैं। करुणा और भय के अतिरिक्त और भी न जाने कितने विरोधी भाव इस प्रकार मिल जाते हैं जिस प्रकार ऋषियों के आश्रम में गाय और सिंह अपना स्वाभाविक बैर भूलकर एक घाट पानी पीने लगते थे। विरुद्ध भावों के सम्मिलन से मन एक प्रकार के हलकेपन का, उन्मुक्त भावका, संतुलन अथव स्वस्थता का अनुभव करता है। वही हमारे सुख का कारण है।

इस बात को समझ लेना आवश्यक है कि ट्रेजेडी में न इच्छाओं के दमन के लिए अवसर है, न उनके उन्नयनके लिए। दमन अथवा उन्नयन का मार्ग कठिनाइयों का मार्ग है। ट्रेजेडी की सफलता इसी में है कि हम बिना दमन आदि के दुःखात्मक घटनाओं का सामना कर लेते हैं। ट्रेजेडी में आनन्द इसलिए मिलता है कि हमारी वर्त्तमान स्थिति स्वस्थता की स्थिति है। हमारा मानसिक संस्थान यथोचित रूप से अपना काम कर रहा है। मनुष्य के मन की ऐसी कोई भावना नहीं जिसका ट्रेजेडी में समाहार न हो सके। दुःख ही एक ऐसा सूत्र है जिसके सहारे समस्त संसार में एकत्व की, समत्व की स्थापना की जा सकती है।

सन्तुलन एक ऐसी वस्तु है जिसका भारतीय शास्त्रों में भी जयजयकार हुआ है। जहाँ सन्तुलन नहीं, वहाँ वैषम्य है और वैषम्य में आनन्द कहाँ? गीता में ठीक ही कहा गया है—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य, न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयत: शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥

विष पीलेने पर भी शंकर के शिवत्व को क्षति नहीं पहुँची। साहित्य में भी अमृत और विष एक साथ चल सकते हैं, तभी सच्चे आनन्द की सृष्टि हो पाती है। ट्रैजेडी में विष और अमृत जैसे विरोधी तत्त्व एकत्र देखे जा सकते हैं। वास्तव में मनुष्य की आत्मा भी मूलतः सन्तुलन प्रधान है। ट्रैजेडी में आत्मा को अपने असली रूप में आने का अवसर मिल जाता है, इसलिए स्वभावतः ही आनन्द की उपलब्धि होती है। रिचर्ड्स द्वारा उपस्थित किया हुआ सिद्धांत ट्रैजेडी के आनन्द की अच्छी व्याख्या करता है।

२१

तुलसी और गांधी का स्वप्न-लोक

गोस्वामी तुलसीदास से किसी ने कहा था कि यदि आप अकबर बादशाह की प्रशंसा में कुछ पद लिख दें तो आपको राज्य में बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकती है, ऐसी प्रतिष्ठा जो बड़े-बड़े मनसबदारों के भाग्य में नहीं है। तुलसीदास ने उत्तर दिया—

"हम चाकर रघुवीर के, पटौ लिखौ दरबार,
अब तुलसी का होहिंगे, नर के मनसबदार ?"

राम के दरबार का पट्टा लिखाकर तुलसीदास इस संसार में आये थे। उनका समस्त जीवन राममय था, राम उनके श्वास-प्रश्वास में समाया हुआ था। उनको किसी प्रकार का कष्ट होता था तो वे राम के दरबार में ही 'विनय-पत्रिका' भेजा करते थे अथवा स्वान्तः सुखाय कभी रामायण लिखते, कभी 'कवितावली' लिखते तो कभी 'दोहावली' और 'गीतावली' की रचना करते। राम के प्रति तुलसी की सी अनन्य आस्था और श्रद्धा कभी देखने सुनने में नहीं आयी।

वाल्मीकि रामायण में आदि कवि ने सबसे पहले राम का चरित भारतीय जनता के सामने रखा था किन्तु वाल्मीकि रामायण के पाठकों की संख्या आज कितनी है ? अधिकांश भारतीय जनता तो राम को उसी रूपमें ग्रहण करती आयी हैं जिस रूप में आज से करीब ३०० वर्ष पहले गोस्वामी तुलसीदासने राम को प्रस्तुत किया था। वाल्मीकि के राम और तुलसी के राम में भिन्नता है, एक में यथार्थवाद है तो दूसरे में आदर्शवाद। आदर्शवादी होने के कारण भारतीय जनता तुलसी के राम को ही सर्वाधिक आदर-सम्मान दे सकी है। तुलसी के राम ने तो राम का महत्त्व इतना बढ़ा दिया कि राम किसी शासक का रूप धारण न कर एक आदर्श के प्रतीक बन गये। 'राम-राज्य' एक मुहावरा बन गया।

गांधीजीसे बहुतसे लोग जब स्वराज्य का अर्थ पूछते थे तो वे कह दिया करते थे, स्वराज्य का अर्थ होगा 'रामराज्य'। सामान्य जनता को गांधी जी की यह बात बड़ी पसन्द आयी क्योंकि तुलसीदास वर्षों पहले रामराज्य का चित्र खींचते हुए बतला चुके थे—

दैहिक दैविक भौतिक तापा,
रामराज काहू नहिं व्यापा।
बैर न करहिं काहु सन कोई,
राम-प्रताप विषमता खोई।
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना,
नहिं कोउ अबुध न लच्छन-हीना॥

जिस राजा के राज्य में प्रजा दुखी रहे, उस राजा को तुलसीदास नरक का अधिकारी समझते थे। तुलसी के राम-राज्य के आदर्श ने गांधीजी को अत्यधिक आकृष्ट किया होगा और मैं तो समझता हूँ, बोलचाल में राम-राज्य' आदर्श राज्य के अर्थ में जो प्रयुक्त होने लगा, उसके प्रचलन में भी गांधी जी ने बड़ा सहारा दिया होगा किन्तु कुछ लोग ऐसे भी थे जो 'राम-राज्य' को स्वराज्य अथवा आदर्श राज्य के अर्थ में मानने के लिए तैयार न थे। रामराज्य उनकी दृष्टि में एकतंत्रीय राज्य था जिसका सामंजस्य आधुनिक लोकतंत्रीय पद्धति से वे नहीं कर पाते थे। कुछ ऐसे भी थे जो 'राम-राज्य' में हिन्दू राज्य की संकीर्णता का अनुभव करते थे। 'रामराज्य' शब्द को लेकर जब इस प्रकार के आक्षेप उठाये जाने लगे तो गांधी जी को अक्टूबर १९४५ के 'हरिजन' में 'राम-राज्य' संबन्धी अपने स्वप्न का निम्नलिखित स्पष्टीकरण करना पड़ा—'राम-राज्य' का धर्म की परिभाषा में अर्थ होगा—पृथ्वी पर ईश्वर का राज्य। राजनीतिक भाषा में इसका अनुवाद किया जाय तो इसकी व्याख्या होगी—एक लोकतंत्र, जिसमें गरीब और अमीर, स्त्री और पुरुष, गोरे और काले, जाति या मजहब के कारण असमानता नहीं रहेगी, ऐसे राज्य में रूब जमीन और सत्ता जनता के हाथ में होगी, न्याय शीघ्र, शुद्ध और सस्ता होगा, उपासना, वाणी और लेखनी की स्वतन्त्रता होगी। और इन सबका आधार होगा—स्वेच्छा से संयम, धर्म का शासन। ऐसे राज्यतंत्र की रचना सत्य और अहिंसा पर ही हो सकती है। सुखी, समृद्ध तथा स्वावलम्बी देहात और देहाती प्रजा उसके मुख्य लक्षण होंगे। हो सकता है कि स्वप्न कभी कार्यान्वित न हो सके, परन्तु इस स्वप्न-जगत में रहने और इसको शीघ्र से शीघ्र निर्मित करने के प्रयत्न में ही मेरे जीवन का आनन्द है।"

गांधीजी ने 'राम-राज्य' के आदर्शका जो स्पष्टीकरण किया है उसकी तुलना संविधान-सभा के धर्म पर अनाश्रित राज्यादर्श से कीजिये तो दोनों में कितनी अद्भुत समानता मिलेगी। धर्म पर अनाश्रित राज्य का अर्थ यह नहीं है कि वह राज्य वस्तुतः अधार्मिक होगा, उसका अर्थ केवल यही है कि उस राज्य में धर्म, संप्रदाय, वर्ण, जाति-विरोध आदि के कारण किसी को क्षति नहीं उठानी पड़ेगी।

स्वराज्य के लिए गांधीजी ने जिस शब्द को प्रचलित किया था वह शब्द वास्तव में बड़ा महत्वपूर्ण है । उस शब्द के साथ मर्यादापुरुषोत्तम राम का पुनीत संसर्ग है । तुलसी अपने युग की सीमाओं से भी बंधे थे, फिर भी उनके राम वर्ण व्यवस्था के हामी होते हुए भी नीच कही जाने वाली जातियों के साथ इस तरह का सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करते हैं कि जिससे उनके हृदय की शुद्धता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता । शबरी के बेर खाना एक ऐसा ही प्रसंग है । राम ही क्यों, भरत और मुनि वशिष्ठ तक निषादराज के साथ इस तरह का व्यवहार करते हैं जो वर्ण-व्यवस्था के पृष्ठपोषक को साधारणतः आश्चर्य में डाल देता है । राम और निषादराज के मिलन का वर्णन करते समय तुलसीदास कहते हैं—

"करत दण्डवत देखि तेहि, राम लीन्ह उर लाय ।
मनहु लखन सन भेंट भइ, प्रेम न हृदय समाय ॥"

और वशिष्ठ तो निषादराज से इस तरह मिले मानो पृथ्वी पर लोटते हुए स्नेह को ही उन्होंने उठा लिया हो—

"राम सखा ऋषि बरबस भेंटा ।
जनु महि लुठत सनेह समेटा ।"

तुलसी के राम वस्तुत: धर्म के प्रतीक थे । एकतन्त्रीय शासन के दोष उनमें कहीं दिखलाई नहीं पड़ते । भवभूति ने तो राम के मुख से यहाँ तक कहलवा दिया था—

"स्नेहं दयां च सौख्यं च, यदि वा जानकीमपि ।
आराधनाय लोकस्य, मुंचतो नास्ति मे व्यथा ।"

सीता के दूसरे बनवास को लेकर जो कटुआलोचना कुछ समीक्षक किया करते हैं उनको यह भी समझ रखना चाहिये कि राम अपने में व सीता में कोई अन्तर नहीं समझते थे । सीता के प्रति क्रूर होने का अर्थ उनका अपने प्रति क्रूर होना ही था ।

राम जैसे मर्यादा पुरुषोत्तम को लेकर स्वराज्य के अर्थ में जो शब्द प्रचलित हुआ उस शब्द में भारतवर्ष की सांस्कृतिक आत्मा की भी गूंज है । सच तो यह है कि जिस तरह के रामराज्य का चित्र तुलसीदास जी ने अपने रामचरितमानस में अंकित किया है वह तुलसीदास जी का स्वप्न ही तो था । और गांधीजी तो इस बात का भी अनुभव करते थे कि हो सकता है यह स्वप्न कभी कार्यान्वित न हो सके ।' और आज हमारे भारतवर्ष में क्या हो रहा है ? आज तो भ्रष्टाचार और रिश्वत का नंगा नाच हो रहा है । एक 'राम-राज्य' का स्वप्न देखने वाला था स्वप्न-द्रष्टा ही नहीं, उस स्वप्न को, उस ईश्वरीय राज्य को, वह भारत-भूमि पर अवतरित करना चाहता था । उसकी वाणी सत्य की

वाणी थी जो केवल सूचना मात्र नहीं देती थी, असंख्य हृदयों के अन्धकार को विदीर्ण करके जो ज्योति विकीर्ण करती हुई चलती थी। भारतमाता! क्या रामराज्य का स्वप्न देखने वाले भी इस देश में नहीं रह गये ? सर्वोदय और वर्गरहित समाज की बात अनेक बार सुनाई पड़ती है किन्तु यह विशाल देश, जिसकी महान् सांस्कृतिक परम्परा है, कब एक क्रियात्मक आदर्श जनता के सामने रखेगा, कुछ कहा नहीं जा सकता। दोनों के रामों की कल्पनाओं में चाहे अन्तर हो पर तुलसी के बाद राम में ऐसी अनन्य आस्था आधुनिक युग में गांधी जी को छोड़कर और कहीं नहीं देखी गयी। गांधी के 'हे राम' ने तो मृत्यु तक भी उस विश्ववन्द्य महात्मा का साथ नहीं छोड़ा और उस तुलसी के लिए तो क्या कहा जाय जिसके सम्बन्ध में हरिऔधजी कह गये हैं—

"बन राम रसायन की रसिका,
रसना रसिकों की हुई सफला।
अवगाहन मानस में करके,
जन-मानस का मल सारा टला।
हुई पावन भावकी भूमि भली,
हुआ भावुक भावुकता का भला।
कविता करके तुलसी न लसे,
कविता लसी पा तुलसी की कला॥"

———

२२

सरदार पूर्णसिंह और उनकी विचार धारा

फ्रांस के एक प्रसिद्ध आलोचक का कथन है कि यदि किसी कलाकार की कृतियों के रहस्य को हृदयंगम करना हो तो उसके जीवन की सभी घटनाओं का भली भाँति अध्ययन करना चाहिए। सरदार पूर्णसिंह ने चार पांच निबन्ध लिखकर ही हिन्दी के निबन्ध-साहित्य में जो शीर्ष-स्थान प्राप्त किया है, आखिर उसका रहस्य क्या है? 'सिसटर्स आफ दी स्पिनिंग व्हील' नामक पुस्तक की भूमिका में अर्नेस्ट एण्ड प्रेसे रिज ने स्वयं पूर्ण सिंह के लिखे हुए संक्षिप्त आत्म-चरित को उद्धृत किया है जिसका कुछ अंश यहाँ दिया जा रहा है—"सन् १६०० में मैं जापान चल दिया और तीन वर्ष तक टोकियो की इम्पीरियल यूनिवर्सिटी में मैंने व्यावहारिक रसायन का अध्ययन किया और जापान के औद्योगिक जीवन की बहुत सी बातों का ज्ञान प्राप्त किया। वहाँ मैं अनेक प्रसिद्ध जापानियों के सम्पर्क में आया और उनके द्वारा मैंने पुष्पों से, प्रकृति से और बुद्ध भगवान से प्रेम करना सीखा। वहाँ मैं कवियों से, कलाविदों से, चुप चाप शांत रहने वाले पुरुषों से तथा आनन्द में विभोर रहने वाले व्यक्तियों से मिलता और सदा हृदय की गुप्त विभूतियों की खोज में रहता। जापान-प्रवास के अन्तिम दिनों में मुझे वहाँ आत्म-स्वतंत्रता का एक नवीन आनन्द प्राप्त हुआ। मेरी सब चीजें छूट गईं और मैं भिक्षु हो गया। मेरी आंखों में आनन्दाश्रु बहने लगे। मुझे ऐसा मालूम पड़ने लगा, जैसे मैं सबको प्यार करता हूँ और सब मुझको प्यार करते हैं। यदि जापान सुन्दर था, तो मेरे चारों ओर के लोग इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण मुझमें देखने लगे। एक फ़ारसी कवि का कथन है—'क्या तुम चमन में गुलाब देखने के लिए जाते हो? कैसे अफसोस की बात है? अपने हृदय का द्वार खोल दो और उसमें प्रवेश करके देखो, वहाँ कैसे, अग्नि की लपटों के समान गुलाब खिल रहे हैं। मेरी भी कुछ ऐसी ही दशा थी। आनन्दातिरेक से मैं अपने आपे से बाहर था। मुझे अपने सामने, पीछे, ऊपर, नीचे सब ओर बुद्ध ही बुद्ध दिखाई देते थे। इसी समय जापान में एक भारतीय सन्त से, जो भारतवर्ष से आया था, मेरी भेंट हो गई। उन्होंने मुझे एक ईश्वरीयज्योति से स्पर्श किया और मैं संन्यासी हो गया।"

ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है कि आध्यात्मिकता सरदार पूर्णसिंह के

जीवन का अभिन्न अंग थी, वे आध्यात्मिक वातावरण में सांस लेते थे। उनके निबन्धो में स्थान-स्थान पर जो आध्यात्मिक उन्मेष दिखलाई पड़ता है, उसका भी रहस्य यही है। सरदार जी ने जो निबन्ध हिन्दी साहित्य को भेंट किये हैं, उनमें उनके वैयक्तिक जीवन की झलक स्पष्ट है। स्व. प० पद्मसिंह शर्मा ने लिखा है कि पूर्णसिंह बड़े सहृदय, भावुक और उदार प्रकृति के पुरुष थे। स्वामी रामतीर्थ की तरह वेदान्त की मस्ती उनपर सदा छाई रहतो थी। वेदान्त-विषय की चर्चा करते हुए उनकी वाणी में अपूर्व ओज और प्रवाह आ जाता था, तल्लीनता की दशा में झूमने लगते थे। एक बार ज्वालापुर महाविद्यालय में आये हुए थे। उनसे जब व्याख्यान सुनाने के लिए कहा गया तो कुछ इधर उधर की बातों के बाद वेदान्त का प्रसंग छिड़ गया। कोई एक घंटे तक आवेश की सी दशा में बड़े ही हृदयग्राही और प्रभावोत्पादक प्रकार से मस्ती में झूम झूम कर वर्णन करते रहे। बातों का सिलसिला खत्म करके बोले—'लो व्याख्यान हो गया। ऐसे व्याख्यान भीड़ में नहीं हुआ करते, यह तो एकांत में कहने सुनने की बातें है।' स्वर्गीय पं० भीमसेन शर्मा ने इच्छा प्रकट की कि वह व्याख्यान लिखवा दिया जाय ताकि 'भारतोदय' में प्रकाशित हो जाय। पूर्णसिंह ने कहा—'अब किसे याद है, न जाने जोश में क्या-क्या कह गया हूँ।' उन दिनों पूर्णसिंह पर रामतीर्थ के वेदांत की मस्ती का बड़ा गहरा रंग चढ़ा हुआ था। उस रंग में वे बड़े शराबोर थे। उनके आचार विचार और व्यवहार में वही रंग झलकता था।

सरदार पूर्ण सिंह का उक्त व्याख्यान यदि किसी प्रकार लिपिबद्ध कर लिया गया होता तो उससे हिन्दी साहित्य की भी वृद्धि होती क्यों कि साधना-जन्य ऐसे ही आवेश के क्षणों में चिरंतन साहित्य की सृष्टि होती है। साहित्य में मुख्यतः कलाकार की अनुभूति ही अभिव्यक्त होती है। उसके अन्तर्जगत में जो कुछ है, उसे वह बहिर्जगत को दे देना चाहता है। सरदार पूर्ण सिंह ने अपने निबन्धों द्वारा अपनी अन्तरात्मा की ही अभिव्यक्ति की है। 'मज-दूरी और प्रेम' से कुछ उद्धरण लीजिये—

(१) "मेरी प्रिया अपने हाथ से चुनी हुई लकड़ियों को अपने दिल से चुराई हुई एक चिनगारी से लाल में बदल देती है। जब वह आटे को चलनी से छानती है तब मुझे उसकी चलनी के नीचे एक अद्‌भुत ज्योति की लो नजर आती है।"

(२) "प्रकृति की मन्द-मन्द हँसी में ये अपढ़ लोग ईश्वर के हँसते हुए ओंठ देख रहे हैं। पशुओं के अज्ञान में गम्भीर ज्ञान छिपा हुआ है। इन लोगों

के जीवन में अद्भुत आत्मानुभव भरा हुआ है।"

ऊपर के दोनों उद्धरणों में अध्यात्मिकता की झलक स्पष्ट है। इतना ही नहीं, सरदार जी की तर्क-शैली भी स्थान-स्थान पर आध्यात्मिकता के आधार पर अग्रसर होती हुई दिखलाई पड़ती है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित अंश को लीजिये—

"मनुष्य की विविध कामनायें उसके जीवन को मानो उसके स्वार्थ रूपी धुरे पर चक्कर देती हैं। परन्तु उसका जीवन अपना तो है ही नहीं, वह तो किसी आध्यात्मिक सूर्य मंडल के साथ की चाल है और अन्ततः यह चाल जीवन का परमार्थ रूप है।"

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि सरदार पूर्णसिंह इस बात को मान कर अपने पक्ष की स्थापना कर रहे हैं कि 'मनुष्य का जीवन उसका अपना जीवन तो है ही नहीं,' मनुष्य तो किसी दिव्य ज्योति की अभिन्न किरण है—सूर्य से उसकी किरण अलग होते हुए भी अलग कहाँ है ?

रहस्यवाद की चर्चा करते हुए आलोचकों ने रहस्यवादी कवियों पर ही अपने विचार प्रकट किये हैं पर कोई कारण नहीं कि रहस्यवाद का क्षेत्र केवल काव्य तक ही सीमित रहे। सरदार पूर्णसिंह ने अपने निबन्ध यद्यपि गद्य में लिखे हैं. तो भी उनके निबन्धों में जो रहस्यवादी वातावरण है तथा उनके जीवन में जो आध्यात्मिक भावोन्मेष था, उसको देखते हुए यदि हम उन्हें आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रसिद्ध रहस्यवादी लेखक कहें तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। और फिर एक बात यह भी है। सरदारजी ने जो गद्यात्मक लेख लिखे हैं, वे आखिर किस काव्य से कम हैं ? उनके पढ़ने में सहृदय पाठकों को काव्य का-सा आनन्द प्राप्त होता है। सरदारजी की वाणी में कार्लाइल का-सा आवेश और प्रवाह है, ईसा मसीह, गांधी, रसकिन एवं टाल्स्टाय की सी पवित्रता है।

सरदार पूर्णसिंह के निबन्धों की रहस्यात्मकता की ओर हिन्दी के आलोचकों का ध्यान आकृष्ट होना चाहिए। आधुनिक रहस्यवादी कवियों के सम्बन्ध में बहुधा यह सुना जाता है कि उनके काव्य में केवल काव्योचित आराधना है, उनके जीवनमें आध्यात्मिक साधना नहीं किन्तु जहाँ तक मैं समझता हूँ, इस तरह की बात सरदार पूर्णसिंह के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती।

अंत में एक महत्वपूर्ण तथ्य का निर्देश कर देना भी यहाँ आवश्यक है। यद्यपि सरदार पूर्णसिंह की ख्याति निबन्ध लेखक के रूप में ही है किन्तु सरदारजी कविता भी किया करते थे जैसा कि जायसवालजी के 'सिख कवि पूर्णसिंह' लेख की निम्नलिखित पंक्तियों से जान पड़ता है—

"जब वे ईश्वर को संबोधन करके लिखी हुई अपनी कविता को पढ़ते थे, उनके गालों पर आँसुओं की बूंदें ढुलकने लगतीं, उनका चेहरा उत्तरोत्तर उज्ज्वल होता जाता और उनकी दशा बिलकुल आत्म-ज्ञान में विभोर चेतना-हीन व्यक्ति की-सी हो जाती थी। उस समय सुनने वालों को ऐसा मालूम होता था, मानो पूर्णसिंह उनके हृदय में प्रवेश कर रहे हों। वे कुछ देर के लिये माया-मोह पूर्ण संसार को भुला देते थे।"

केवल कविता पढ़ते समय ही नहीं, अन्य आवेश के क्षणों में भी सरदार पूर्णसिंह 'हाल' की अवस्था में पहुँच जाते थे। "सन् १६०६ की बात है, एक दिन आचार्य द्विवेदी जी तथा पद्मसिंहजी प्रो० पूर्णसिंह जी से मिलने के लिये देहरादून पहुँचे। बंगले के पास पहुँच कर ५० कदम की दूरी से उन्होंने देखा कि प्रो० साहब बंगले की ओर धीर गति से जा रहे हैं। वे अभी कुछ फासले पर थे। पूर्णसिंह जी अपने बंगले के दरवाजे पर पहुँच चुके थे। इतने ही में उनके बंगले से एक काषायवेषधारी साधु आता दिखाई दिया। साधु जल्दी-जल्दी कुछ बड़बड़ाता हुआ आ रहा था, बंगले के दरवाजे पर प्रोफेसर साहब और साधु का सामना हो गया। प्रोफेसर साहब साधु से कुछ सुनकर आवेश की-सी दशा में आगए। साधु को बंगले की ओर लौटने के लिए आग्रह करने लगे। साधु क्रोध में था, लौटना न चाहता था और पूर्णसिंह उससे लिपट रहे थे और मना रहे थे। द्विवेदी जी तथा पद्मसिंह जी यह तमाशा देखने के लिए जल्दी-जल्दी बंगले की ओर बढ़े। जब पास पहुँचे तो पूर्णसिंह होश में न थे, जमीन पर लोट रहे थे, कोट के बटन तोड़ दिये थे, साफा सिर से दूर पड़ा था। यह विचित्र दशा देखकर दोनों साहित्यिक घबराये, कुछ भेद समझ में न आया। साधु भी कुछ चकित सा क्रोध-मुद्रा में पास ही खड़ा था। पद्मसिंह जी ने पूर्णसिंह को उठाने और होश में लाने की चेष्टा की। कुछ देर तक वह उसी दशा में पड़े रहे। पद्मसिंहजी ने उन्हें झंझोड़ कर कहा—'उठिये, आपसे मिलने द्विवेदी जी आये हैं।' जब उन्हें कुछ होश आया तो एक दम घबरा कर उठ बैठे और हाथ मिला कर बोले—'आप कब आये? क्षमा कीजिये, मुझे मालूम न था कि आप आ रहे हैं, मैं इस समय आपे में न था, आत्म-विस्मृति की दशा में पहुँच गया था।"

बहुत वर्षों पहले सरदार पूर्णसिंह ने लिखा था—'समस्त धन घरों से निकल कर एक ही दो स्थानों में एकत्र हो गया। साधारण लोग मर रहे हैं, मजदूरों के हाथ-पांव फट रहे हैं, लहू चल रहा है। सरदी से ठिठुर रहे हैं। एक तरफ दरिद्रता का अखण्ड राज्य है; दूसरी तरफ अमीरी का चरम दृश्य।' आज श्री विनोबा भावे भी कह रहे हैं—'हिन्दुस्तान में जो गरीबी का मसला

है वह सिर्फ पैदाइश बढ़ने से हल नहीं होगा, पैदाइश किस ढंग से की जाती है, उस पर सब कुछ निर्भर है । मतलब यह है कि अभी समाज में जैसे दो टुकड़े पड़ गये, वैसे टुकड़े अगर कायम रहे तो चाहे कुछ पैदाइश बढ़ भी जाय, तो भी हमारा मसला हल नहीं होगा, दुखियों के दुःख दूर नहीं होंगे। दोनों वर्गों को खाना चाहिये, लेकिन खाने के लिए काम करने का बोझ नीचे की श्रेणी के लोगों पर पड़ रहा है । दोनों का जीवन क्षीण हो रहा है; एक को खाना नहीं मिलता, दूसरे को भूख नहीं लगती । इस तरह से दोनों निकम्मे होते जा रहे हैं। लेकिन भगवान की योजना में ऐसा नहीं था । उसने हर एक को हाथ पांव दिये, हर एक को दिमाग दिया । अगर उसकी यह मंशा होती कि कुछ लोग काम ही करें और कुछ सिर्फ दिमाग से सोचें, तब तो वह चन्द लोगों को सिर देता और चन्द लोगों को धड़ देता जैसे राहु और केतु। लेकिन वैसा उसने नहीं किया। उसने हर एक को दिमाग दिया और हर एक को हाथ-पांव दिये, हर एक को पेट दिया और हर और एक को भूख दी। मतलब इसका यह कि हर एक को दिमाग का भी काम मिलना चाहिये और शरीर के लिए कसरत भी मिलनी चाहिये । हर एक को पैदाइश का काम करना चाहिये। भेद तभी मिटेगा जब कि प्रोफेसर और विद्यार्थी, न्यायाधीश और वकील, व्यापारी और पढ़े-लिखे लोग सब अपने हाथों से कुछ न कुछ काम करेंगे, अपने घर में चक्की पीसेंगे, चरखा कातेंगे, कुछ पैदाइश करेंगे । जो कारीगर थे उनको हमने नीच माना, जो मजदूर थे उनको नीच माना, जो किसान थे उनको नीच माना और जो काम नहीं करते हैं, मेहनत नहीं करते हैं, उन्हें ऊँचा माना। इसी कारण हिन्दुस्तान नीचे गिर गया। काम करना भगवान की पूजा करना है, काम करना देश की सेवा करना है । बिना काम किये खाना पाप है । गीता में भगवान ने बताया है कि जो शरीर श्रम नहीं करता और सिर्फ खाता है वह चोरी का अन्न खाता है । जो उत्तम से उत्तम लोग हो गये हैं, जिन्होंने क्रान्ति की है वे हाथों से काम करते थे । मोहम्मद पैगम्बर हाथों से काम करते थे । हमारे जितने सन्त हो गये वे कुछ न कुछ हाथों से करते थे। महात्मा गांधी अन्त तक सूत कातते रहे और जिस दिन वे कतल हुए उस दिन भी कातकर वे भगवान की प्रार्थना में गये थे। जब हाथ से काम होने लगेगा तो देखोगे कि चन्द दिनों में हिन्दुस्तान एक उन्नत देश बनेगा; सिर्फ पैदाइश बढ़ेगी इतना ही नहीं बल्कि श्रम की इज्जत होगी और काम करने वाले लोग जो आज गिर गये हैं और नीच समझे जाते हैं, वे ऊपर उठेंगे । जब कबीर जुलाहा बुनता था, तब जुलाहे की जो इज्जत थी वह आज कहाँ है ? जब रैदास चमार का काम करता था तब चमार की जो

इज्जत थी वह आज कहाँ है ? जब नामदेव दर्जी का काम करता था तब दर्जी की जो इज्जत थी वह आज कहाँ है ? जब कृष्ण भगवान मजदूर बनकर किसानों में काम करते थे और ग्वाल बनकर गायों की सेवा करते थे तब किसानों की और गाय की सेवा करने वालों की जो इज्जत थी वह आज कहाँ है ?"

सरदार पूर्णसिंह भी इसी स्वर में स्वर मिला रहे हैं—"जब तक जीवन के अरण्य में पादड़ी, मौलवी, पण्डित और साधु-सन्यासी हल, कुदाल और खुरपा लेकर मजदूरी न करेंगे तब तक उनका आलस्य जाने का नहीं, तब तक उनका मन और उनकी बुद्धि अनन्त काल बीत जाने तक मानसिक जुआ खेलती ही रहेगी। उनका चिन्तन बासी, उनका ध्यान वासी, उनकी पुस्तकें बासी, उनके खेल बासी, उनका विश्वास बासी और उनका खुदा भी बासी हो गया।

मजदूरी करना जीवन-यात्रा का आध्यात्मिक नियम है। जोन आव् आर्क की फकीरी और भेड़ें चराना, टालस्टाय का त्याग और जूते गांठना, उमर खैयाम का प्रसन्नता पूर्वक तम्बू सीते फिरना, खलीफा उमर का अपने रंग महलों में चटाई आदि बुनना, ब्रह्मज्ञानी कबीर और रैदास का शूद्र होना, गुरु नानक और भगवान श्रीकृष्ण का मूक पशुओं को लाठी लेकर हाँकना—सच्ची फकीरी का अनमोल भूषण है।"

उक्त दोनों विचारकों के उद्धरण पढ़ लेने पर हाथ के काम का जो मनोविज्ञान है उस पर विचार कर लेना आवश्यक जान पड़ता है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि जब ऊँचे कहे जाने वाले हाथ का भी काम करने लगेंगे तब श्रम का महत्व बढ़ेगा। कोई भी काम नीचा नहीं समझा जायगा, केवल काम ही उच्च माना जायगा। दूसरी बात यह भी है कि बड़े-बड़े लोग जब हाथ का काम करने लगेंगे तो नीचे समझे जाने वाले लोगों के प्रति उनके मनमें सहानुभूति के भाव भी जागृत होंगे। उच्च और निम्न श्रेणियों के बीच में जो खाई है, किसी अंश तक वह भी पटेगी। इसके अतिरिक्त श्री विनोबा भावे यह भी मानते हैं कि केवल मस्तिष्क से काम करने वाले सही चिन्तन नहीं कर सकते। उन्हीं के शब्दों में 'हर एक मनुष्य कुछ न कुछ मजदूरी करने लगे, तो दिमाग भी साफ रहेगा। यह बात मैं अपने तजरबे से कहता हूँ। मैंने घण्टों हाथों से काम किया है, लेकिन उससे मेरा दिमाग हमेशा ताजा रहा है। सोचने की ताकत कम नहीं हुई, बल्कि बढ़ी है। और मैं मानता हूँ कि मैंने हाथों से जो काम किया है वह अगर मैं नहीं करता तो सोचने का ढंग मुझे

अच्छा नहीं सूझता और मैं वैसे साफ विचार नहीं कर पाता जैसे आज करता हूँ। न्यायाधीश अगर रोज घण्टा कुछ न कुछ पैदाइश का काम करेगा, कुदाली चलायेगा, लकड़ी चीरेगा, चक्की पीसेगा या सूत कातेगा और बाकी के समय में फैसला देगा तो वह फैसला सही निकलेगा। उसमें उसका दिमाग अच्छा चलेगा। इस तरह से अगर हम करते हैं तो हमारा दिमाग कभी थकता नहीं है। उसको जो विश्रान्ति मिलनी चाहिये, वह काम करने में मिलती है। यह अनुभव की बात है।" सरदार पूर्णसिंह का भी कहना है कि 'बिना काम' बिना मजदूरी, बिना हाथ के कला-कौशल के विचार और चिंतन किस काम के। सभी देशों के इतिहासों से सिद्ध है कि निकम्मे पादड़ियों, मौलवियों, पण्डितों और साधुओं का दान के अन्न पर पला हुआ ईश्वर चिंतन, अन्त में पाप, आलस्य और भ्रष्टाचार में परिवर्तित हो जाता है। जिन देशों में हाथ और मुँह पर मजदूरी की धूल नहीं पड़ने पाती वे धर्म और कला-कौशल में कभी उन्नति नहीं कर सकते। निकम्मे रह कर मनुष्यों की चिंतन शक्ति थक गयी है। बिस्तरों और आसनों पर सोते और बैठे मनके घोड़े हार गये हैं। सारा जीवन निचुड़ चुका है।'

भारतवर्ष में पिछले २०० वर्षों से शिक्षा की जो प्रणाली प्रचलित रही, उसने श्रमजीवियों और बुद्धिजीवियों के बीच एक बड़ी भारी दीवार खड़ी कर दी—श्रम के महत्व को उसने बढ़ने न दिया। हमारा शिक्षित वर्ग अधिकांश में बुद्धि-विलासी बन गया। ऐसे निरे बुद्धि विलासियों के प्रति स्वयं आचार्य शुक्ल की यह फटकार पढ़ते ही बनती है—'जो आँख भर यह भी नहीं देखते कि आम सौरभपूर्ण मंजरियों कैसे लदे हुए हैं, जो यह भी नहीं जानते कि किसानों के झोंपड़ों के भीतर क्या हो रहा है, वे यदि दस बने-ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का परता बताकर देश-प्रेम का दावा करें तो उनसे पूछना चाहिये, कि भाइयो, बिना परिचय के यह प्रेम कैसा? जिनके सुख-दुःख के तुम कभी साथी न हुए उन्हें तुम सुखी देखना चाहते हो, यह समझते नहीं बनता। उनसे कोसों दूर बैठे-बैठे, पड़े-पड़े या खड़े-खड़े तुम विलायती बोली में अर्थशास्त्र की दुहाई दिया करो पर प्रेम का नाम उसके साथ न घसीटो।'

अंग्रेजी शासन के बाद जिस तरह की आर्थिक व्यवस्था इस देश में प्रचलित हुई उसमें मोटी आसामियों (अमीरों) ने गरीबी के बारे में सोचना ही बन्द कर दिया। तभी तो स्वर्गीय आचार्य शुक्ल जैसे साहित्यसेवी समालोचक को भी व्यंग्यात्मक स्वर में कहना पड़ा 'मोटे आदमियों! तुम जरा-सा दुबले हो जाते अपने अंदेशों से ही सही तो न जाने कितनी ठठरियों पर

मांस चढ़ जाता !'

अब हमारा देश स्वतन्त्र हुआ है । क्या अब भी वैसी ही शिक्षण-पद्धति और आर्थिक व्यवस्था बनी रहेगी ? श्रम और बौद्धिकता दोनों में सन्तुलन उपस्थित करने वाली शिक्षण-पद्धति क्या इस देश में प्रचलित न होगी ? और आर्थिक व्यवस्था का स्वरूप भी क्या अब न बदलेगा ? सरदार पूर्णसिंह और विनोबा भावे हाथ से काम करने पर जो जोर दे रहे हैं, उससे दो वर्गों में भेद भाव तो किसी अंश में अवश्य दूर होगा किन्तु गांधीजी के रामराज्य का स्वप्न अथवा वर्ग रहित समाज की स्थापना का उच्चादर्श भी क्या इससे चरितार्थ हो सकेगा ? क्या इस देश में ऐसे छद्म-वेशधारियों का भी नितान्त अभाव है जो केवल नियम-निर्वाह के लिए थोड़ा सूत कात लेते हैं, फिर भी धन पर धन संग्रह करते चले जा रहे हैं और जिनके हृदय में गरीबों के प्रति कोई सच्ची सहानुभूति नहीं ? वर्तमान परिस्थितियां सच्चे मार्ग-निर्देश के किए आज चीत्कार कर रही हैं ।

सरदार पूर्णसिंह के सम्बन्ध में हिन्दी संसार ने समुचित रीति से अपने कर्तव्य का पालन नहीं किया है । उनके लिखे हुए निबन्ध अभी पत्र-पत्रिकाओं में बिखरे पड़े हैं अथवा पाठ्य-पुस्तकों की शोभा बढ़ा रहे हैं किन्तु सरदार पूर्णसिंह की विस्तृत जीवनी तथा समीक्षा के साथ उनके समस्त निबन्ध पुस्तकाकार प्रकाशित होने चाहिये । देवनागरी और गुरुमुखी को लेकर हिन्दी-पंजाबी की जो भाषा-समस्या आज उठ खड़ी है, उसको देखते हुए सरदार पूर्णसिंह की हिन्दी-विषयक सेवाओं का जो महत्त्व है उसके स्मरण मात्र से हमारे हृदय में पून भावनाओं का संचार हुए बिना नहीं रहता ।

२३

भारतीय सन्तों की साधना

आज कहा जाता है कि विज्ञान गतिशील है और धर्म स्थितिशील है, किन्तु कबीर का धर्म स्थितिशील नहीं था। वे पुरोगामी थे। भगवान् बुद्ध आदि ने संस्कृति को छोड़कर लोक-प्रचलित भाषा में उपदेश दिया था। कबीर ने भी इस तत्व को भली भाँति समझा था। "संस्कृत कूप जल कबीरा, भाषा बहता नीर" कहकर कबीर ने इसी तथ्य को प्रकट किया है। गुरुदेव ने इस पंक्ति को सुनकर कहा था—बड़ी चमत्कारपूर्ण उक्ति है। भारतीय संतों ने ने सब प्रकार की संकीर्णता को दूर कर मानव के महत्व को प्रतिपादित किया है—

कठोपनिषद् में कहा गया है "महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परागतिः।" कबीर ने भी "या घट भीतर सात समन्दर या घट नौ लख तारा कह कर मानव के महत्व का उद्घोष किया है। कबीर ही क्यों, रज्जब, दादू, चंडीदास आदि अन्य भारतीय सन्तों और कवियों ने भी मानव के महत्त्व का प्रतिपादन किया है। उत्तरी भारत में लोकवाणी के माध्यम द्वारा सच्चे अर्थ में कबीर ने ही भक्ति का प्रतिपादन किया—

> भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द।
> परगट करी कबीर ने सप्त द्वीप नवखंड॥

पद्मपुराण में भी भक्ति के मुख से कहलवाया गया है—

उत्पन्ना द्राविड़े चाहं, कर्णाटे वृद्धिमागत स्थिता किंचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता॥ द्वैत और अद्वैत को लेकर युग युगान्तर से भारत में शास्त्रार्थ होता रहा है और इसका क्या कभी अन्त होने वाला है? बड़े-बड़े तत्वज्ञानी इस प्रकार के जटिल प्रश्नों की मीमांसा करते-करते हार गये, किंतु देखने की बात है कि इस प्रकार की समस्याओं को भी कबीर किस सहज भाव से सुलझा दिया करते थे। काशी के पंडितों ने कबीर से एक बार प्रश्न किया—वह द्वैत है या अद्वैत? सीधे ढंग से कबीर ने उत्तर दिया—यदि उसके रूप, गुण कुछ भी नहीं तो उसके संख्या भी नहीं! वह एक दो कुछ भी नहीं! उत्तर कितना सरल और कितना विस्मयोत्पादक!

> "आगे बहुत विचार भो, रूप अरूप न ताहि।
> बहुत ध्यान करि देखिया नहि ताहि संख्या आहि।

लोगों ने पूछा—ईश्वर भीतर है या बाहर! और देखिये कबीर का उत्तर—

ऐसा लो नहीं तैसा लो, मैं केहि विधि-कथौं गभीरा लो।
भीतर कहूँ तो जगमय लाजे, बाहर कहूँ तो झूठा लो।

वह ऐसा भी नहीं, वैसा भी नहीं। इस गम्भीर रहस्य को कहूँ भी कैसे? यदि कहूँ कि वह भीतर है तो यह बहिर्जगत लज्जा के मारे मर जायगा और यदि कहूँ कि वह बाहर है तो कितनी झूठी बात होगी यह!

ईश्वर के नाम पर अनेक झंझट उठते हैं, जगड्वाल खड़े किये जाते हैं, किन्तु सन्त इस विषय में भी अधिक सचेष्ट हैं। दादू ने तो कहा भी "सुन्दरी कबहूँ कंत को मुख सों नाम न लेय।" ले भी कैसे? वह तो अपने पति से अपने को एकाकार समझती है। कोई अपने आपको ही दूसरे नाम से कैसे पुकारे? कबीर ने भी कहा है—मेरे बाहर भी वही, भीतर भी वही। उसका नाम कैसे लूँ? नाम लेने का अर्थ तो यह होगा, मैं उससे भिन्न हूँ।

जल भर कुंभ जलें बिच धरिया, बाहर भीतर सोई।
उनका नाम कहन को नाहीं, दूजा धोखा होई॥

कबीर से किसी ने पूछा—भगवान को कहाँ ढूंढें? कबीर ने उत्तर दिया—यह तो प्रश्न ही अनर्गल है, इसका क्या उत्तर दूँ? वह सब जगह है। ढूंढा तो वह जाय जो कहीं न हो और देखिये कैसा हँसाने वाला और साथ ही कितना गम्भीर उत्तर कबीर ने दिया है—

जल बिच मीन पियासी, मोहि सुन-सुन आवे हाँसी।

कबीर ने बड़ी चमत्कार भरी बातें बड़े सीधेसादे ढंग से कही है। पंडित लोग तर्क और शास्त्रार्थ में उलझे रहते हैं, दूसरों को प्रकाश देने का दंभ भरते हैं किन्तु स्वयं रहते हैं अंधेरे में ही—

पंडित और मसालची, दोनों देखै नाहिं।
औरन को करै चांदना, आप अंधेरे माहिं॥

कोरी बुद्धि से मिलन नहीं होता, हृदय का योग अपेक्षित है। ईंट-ईंट परस्पर नहीं मिलती, गारे की सहायता से मिल जाती है। साक्षर तर्क-जाल में ही उलझे रहते हैं, परस्पर मिलने नहीं पाते। दादू कहते हैं—

"खण्ड खण्ड करि ब्रह्म को, पखि-पखि लीया बांटि।
दादू पूरण ब्रह्म तजि, बंधे भरम की गांठि॥"

रवीन्द्र के निम्न लिखित पद्य और दादू के उक्त दोहे में कितना साम्य है!

"ये एक तरनी लक्ष लोकेर निर्भर खंड खंड करि तारे तरिबे सागर?

एक नौका से अनेक मनुष्य समुद्र पार कर लेते हैं किन्तु सब यात्री नौका के टुकड़े-टुकड़े करके अपना-अपना हिस्सा बांटने का दुराग्रह करने लगें तो समुद्र में डूब जाना ही उसका अवश्यम्भावी परिणाम होगा। अनेक सम्प्रदायों और मतमतान्तरों ने ब्रह्म के टुकड़े-टुकड़े कर डाले हैं और अपने-अपने विनाश का मार्ग प्रस्तुत कर लिया है। धर्म और भगवान् को लेकर कितना संघर्ष खड़ा किया गया और भारतीय सन्तों ने ब्रह्म की अखंडता पर जोर देकर उस संघर्ष को दूर करने का यथाशक्ति प्रयत्न किया।

धर्म का सच्चा रूप वास्तव में विनाशकारी नहीं होता, धर्म तो निश्चय ही समाज को ऊँचा उठाने वाला होता है। किन्तु बहुत से धर्मानुयायी धर्म के नाम पर अनर्थ करते देखे जाते हैं। रामकृष्ण परमहंस ने कहा था कि यदि विभिन्न धर्मों के प्रवर्तक एक स्थान पर इकट्ठे हो सकते तो उनमें किसी मौलिक मतभेद की गुंजायश ही नहीं रहती।

(बिड़ला कालेज पिलानी में दिए गए आचार्य श्री क्षितिमोहन सेन के एक भाषण के आधार पर।)

२४

कृष्ण-समस्या और रास लीला का तत्त्व

पौर्वात्य साहित्य का शायद ही कोई ऐसा प्रसिद्ध विद्वान् हो (चाहे वह भारतीय हो चाहे पाश्चात्य) जिसने कृष्ण की समस्या पर प्रकाश न डाला हो। कट्टर हिन्दू के लिए तो कृष्ण स्वयं भगवान हैं और पिछले हज़ारों वर्षों से कृष्ण के नाममात्र से अनेक दुखी आत्माओं को शान्ति मिलती रही है। साधारण हिन्दू को यह जानने की इच्छा नहीं है कि वेदों के कृष्ण, पुराणों के कृष्ण, गोकुल के कृष्ण और महाभारत के कृष्ण सब एक ही हैं अथवा अलग-अलग, किन्तु जब से अन्वेषण पाश्चात्य-प्रणाली से होने लगा, कृष्ण की समस्या के संबन्ध में प्रसिद्ध विद्वानों ने महत्त्वपूर्ण लेख लिखे और कृष्ण के संबन्ध में अनेक प्रश्न उठ खड़े हुए।

कृष्ण यादवों की सात्वत शाखा के थे और वंशानुक्रम की दृष्टि से गणना करने पर मनु से ६१ वाँ स्थान उनका ठहरता है। यादव चन्द्रवंशी थे किन्तु कुछ पुराणों में कृष्ण को सूर्यवंशी कहा गया है। "एवमीक्ष्वाकुवंशाद्धि यदुवंशो विनिःसृतः" (हरिवंश)। किसी महत्त्वपूर्ण वस्तु को सभी अपनाते हैं, और कृष्ण से अधिक महत्त्वपूर्ण और कौन होगा ? संभवतः यही कारण है कि चन्द्रवंशी तथा सूर्यवंशी दोनों ने कहना शुरू किया—कृष्ण हमारे हैं। वेदों में, पुराणों में, महाभारत में, बौद्ध एवं जैन साहित्य में सभी जगह कृष्ण की पूजा के उल्लेख मिलते हैं।

ऋग्वेद की अनुक्रमणी में कृष्ण को कृष्ण आंगिरस कहा गया है— (८ वाँ मंडल, ८५, ३, ४) कौशीतकी ब्राह्मण में भी कृष्ण आंगिरस का वर्णन मिलता है— (३०, ६)। छान्दोग्य उपनिषद् में देवकी पुत्र कृष्ण का उल्लेख है और यह बतलाया गया है कि कृष्ण एक वैदिक ऋषि थे और घोर आंगिरस के शिष्य थे। ऋग्वेद के अलावा और सभी स्थानों में कृष्ण को देवकी-पुत्र कहा गया है। घटजातक में वासुदेव को राजकीय वंश में से बतलाया गया है और कृष्ण के लिए 'कण्ह' का प्रयोग हुआ है। जैन उत्तराध्याय सूत्र में वासुदेव को वृष्णिवंश का राजकुमार कहा गया है। मेगस्थनीज के वर्णन से जान पड़ता है कि ईसा की चौथी शताब्दी पूर्व मथुरा के लोग कृष्ण को देवता मानने लगे थे और पांडवों से उनका संबन्ध था। घोसुंडी और नानघाट के शिला-

लेखों में भी संघर्षण और वासुदेव की पूजा के उल्लेख मिलते हैं।

महाभारत के अध्ययन से जान पड़ता है कि उसके प्रारंभिक भाग में तो कृष्ण का महापुरुष के रूप में चित्रण हुआ है, बाद में कृष्ण ने देवत्व का रूप धारण किया है। हाँ, यह निश्चित है कि जैन और बौद्ध साहित्य में कृष्ण का महापुरुष के रूप में ही चित्रण हुआ है किन्तु प्रस्तर-मूर्तियों आदि के द्वारा यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ईसा की तीसरी शताब्दी पहले कृष्ण की देवता की भाँति पूजा होने लगी थी। ईसा की दूसरी शताब्दी पूर्व के ऐसे शिलालेख मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि कृष्ण की प्रस्तर-मूर्तियों की पूजा होती थी और उनकी पूजा के लिए मन्दिर बनवाये जाते थे। वह देव-देव कहे गए हैं। भारत में आने वाले विदेशियों तक ने अपने आपको 'परम भागवत' की उपाधि से विभूषित किया। ऋग्वेद में जो विष्णु का स्वरूप बतलाया गया है उससे कृष्ण का स्वरूप मिलता है। विष्णु का अर्थ है सर्व-व्यापक परमात्मा और उनका आधिभौतिक स्वरूप है आकाशस्थानीय सूर्य। आकाश नील है तो कृष्ण भी श्याम वर्ण के हैं। किरणें चतुर्दिक् फैली हुई हैं तो कृष्ण के भी चार भुजाएँ हैं। इधर पीत किरणें हैं तो उधर कृष्ण का पीताम्बर है। किन्तु यहाँ यह न भूलना चाहिए कि ऋग्वेद, कौशीतकी ब्राह्मण और छान्दोग्य उपनिषद् में कृष्ण को देवता नहीं माना गया है, एक वैदिक ऋषि के रूप में, जैसा ऊपर कह चुका हूँ, कृष्ण का वर्णन हुआ है। वैसे तो वैदिक युग में अनेक कृष्णों का नाम आया है किन्तु वृष्णि कुल के कृष्ण को भी वहाँ ऋषि ही कहा गया है। जब महाभारत के प्रारंभिक अंशों में भी कृष्ण का चित्रण महापुरुष के रूप में ही हुआ है तो इससे स्पष्ट है कि शुरू शुरू में कृष्ण महापुरुष थे, बाद में भगवान हो गए। बौद्धिक विश्लेषण के इस वैज्ञानिक युग में कुछ आधुनिक साहित्यिक कृतियों में कृष्ण को भगवान् न मानकर महापुरुष के रूप में चित्रित किया गया है। हिन्दी के प्रसिद्ध काव्य 'प्रियप्रवास' में कृष्ण का चित्रण महापुरुष के रूप में ही हुआ है। किन्तु भारतीय जनता के मानस-पटल पर भगवान् के रूप में कृष्ण की जो छाप चिर-अंकित है वह मिटाये नहीं मिटती।

यह प्रश्न बहुधा उठाया जाता है कि ऋग्वेद के कृष्ण और परिवर्ती कृष्ण एक ही थे अथवा अनेक? पुराणों से कहीं भी इस बात का पता नहीं चलता कि कृष्ण वैदिक ऋचाओं के कोई ऋषि थे या उनका वैदिक कृष्ण की तरह आंगिरस से कोई सम्बन्ध था किन्तु बहुत से विद्वान् ऐसे हैं जो छान्दोग्य उपनिषद् के देवकीपुत्र कृष्ण और महाभारत के कृष्ण को एक बतलाते हैं। उनकी मान्यता का आधार यह भी है कि छान्दोग्य उपनिषद् और गीता के

उपदेशों में बहुत कुछ समानता है। किन्तु आधुनिक विद्वान् इस से सहमत नहीं; महाभारत के कृष्ण कभी घोरआंगिरस के शिष्य नहीं रहे। विष्णुपुराण, हरिवंश, भागवत आदि में तो सांदीपनि ही कृष्ण के गुरु कहे गये हैं। इतना ही नहीं, कुछ विद्वान् ऐसे भी हैं जिनका कहना है कि पुराणों के कृष्ण, महाभारत के कृष्ण और भगवद्गीता के कृष्ण अलग-अलग हैं। महाभारत में कृष्ण के बाल्य काल का वर्णन नहीं मिलता और पिछले पुराणों में पौराणिक कृष्ण और पांडवों के सम्बन्ध का उल्लेख नहीं मिलता। महाभारत में जहाँ द्रौपदी के स्वयंवर का वर्णन है वहाँ सभवतः सबसे पहिले कृष्ण का नाम आता है। कृष्ण के बाल्य-काल के सम्बन्ध में महाभारतकार ने मौन धारण किया है। यह भी दलील दी जाती है कि गोकुल के कृष्ण के जीवन और महाभारतीय कृष्ण के गीता-उपदेशों में कोई सामंजस्य नहीं है किन्तु महाभारत में तो कौरव-पांडवों का वर्णन है, इसलिए जहाँ कृष्ण का उनसे संपर्क होता है, वहीं से कृष्ण का वर्णन भी कर दिया गया है और हरिवंश में तो, जो महा भारत का परिशिष्ट कहा जा सकता है एक मात्र कृष्ण का ही वर्णन है। इस प्रकार महाभारत और हरिवंश में कृष्ण का पूरा वर्णन मिल जाता है।

जातकों तथा महाभारत में कृष्ण और गोपियों के संबन्ध का उल्लेख नहीं मिलता। इसलिए कहा जाता है कि गोकुल के वासनामय कृष्ण भगवद्गीता के योगीश्वर नहीं हो सकते। कुछ विद्वान् यह भी कहते हैं कि जब जातकों और महाभारत में गोपियों का वर्णन नहीं है तो गोपी सम्बन्धी कहानियों के लिए वस्तुतः कोई आधार नहीं रह जाता। गोकुल में जब कृष्ण थे तब उनकी अवस्था छोटी थी। महाभारत के सभापर्व में जहाँ शिशुपाल ने कृष्ण पर गालियों की बौछार की है, वहाँ कहीं भी कृष्ण पर उसने कामुकता का आरोप नहीं किया है। इस दृष्टि से विचार किये जाने पर महाभारत के कृष्ण और पुराणों के कृष्ण को एक मान लेने में कोई आपत्ति नहीं रह जाती।

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि कृष्ण एक महान् ऐतिहासिक पुरुष थे जो महाभारत युद्ध के समय विद्यमान थे। इसके साथ-साथ यह भी सच है कि महाभारतकार व्यास घटनाओं का शुष्क चित्रण करनेवाले इतिहासकार न थे, परन्तु वे एक क्रान्तदर्शी कवि तथा तत्वज्ञ दार्शनिक भी थे। मध्यकालीन हिन्दुस्तान के कवियों ने कृष्ण-चरित के सबन्ध में जो कुछ लिखा है, वह ऐतिहासिक तथ्य नहीं है। इस प्रकार के काव्यों में इतिवृत्त तथा कल्पना का अद्भुत मिश्रण हुआ है। हम कल्पना को वास्तविक तथ्य समझ लेने की भूल न करें। कृष्ण और राधा का एक साथ नाम हम लिया करते हैं पर क्या हमने यह भी सोचा है कि काव्य-जगत् में राधा का प्रवेश कब से हुआ? राधा न

वेद में है, न महाभारत में है, न भागवत पुराण में है । ईसा की नवीं शताब्दी में राधा का नाम मिलता है और भागवत धर्म में राधा की पूजा बाद में शुरू हुई है ।*

कृष्ण के संबन्ध में बाद में जो काव्यात्मक रचनायें हुईं वे कहीं-कहीं अश्लीलता की सीमा तक पहुँच गई हैं। हिन्दी साहित्य की रीति-कालीन बहुत कुछ रचनाएँ इस प्रकार की हैं जिनपर मुगल विलासिता की भी छाप पड़ी है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के पंत जैसे कवियों ने भी ऐसी कृतियों पर गहरा प्रहार किया है। भारतवर्ष के कुछ विद्वानों ने कृष्णचरित पर सम्यक् दृष्टि से विचार किया भी है । श्री बंकिमबाबू ने कृष्ण के संबन्ध में सूक्ष्म विवेचन करके मूल तथा प्रक्षिप्त अंशों का पृथक्करण किया है। कृष्ण-चरित पर विचार करते समय हमारी दृष्टि इस ओर भी जानी चाहिए कि जनता ने कृष्ण को किस रूप में देखा है? जनता की दृष्टि में तो कृष्ण भगवान ही रहे। यदि वह उन्हें कामुक के रूप में देखती तो क्योंकर वे उसके हृदय पर दृढ़ता से आसन जमा पाते ? कृष्ण-भक्त जो कृष्ण की आराधना करते हैं, क्या मलिन भाव से ऐसा करते हैं ? चैतन्य महापुरुष तो कृष्ण का गुणानुवाद करते-करते समाधि की अवस्था में पहुँच जाते थे। 'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु-मूरति देखी तिन तैसी।'

कृष्ण और गोपियों की कथा का बहुत-कुछ आध्यात्मिक अर्थ भी किया गया, जैसे गोपियाँ अनेक जीवात्मा हैं और कृष्ण परमात्मा हैं; किन्तु इस प्रकार के आध्यात्मिक अर्थ आधुनिक समीक्षकों को नहीं भाते । कृष्ण शब्द की निम्नलिखित व्युत्पत्ति को तो देखिए—

"कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः ।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥"

अर्थात् कृष् धातु सत्तावाचक है और ण प्रत्यय आनन्द का सूचक है। उस सत्ता और आनन्द दोनों का एकता भाव रूप परब्रह्म कृष्ण कहलाता है। अथवा 'कर्षति सर्वान् स्वकुक्षौ प्रलयकाले इति कृष्णः' अर्थात् प्रलय काल में सब जीवों को अपनी कुक्षि में जो लीन करे वह कृष्ण है। अथवा 'दोषान् कृषति निवारयतीति कृष्णः' कृष्ण के ईश्वरत्व को प्रकट करनेवाली इस प्रकार की व्युत्पत्तियों पर कृष्ण की ऐतिहासिकता पर विचार करनेवाले आधुनिक समीक्षक झुँझला उठते हैं।

कृष्ण और कुब्जा के प्रसंग का निरूपण भी कुछ पंडितों ने किया है। उनके मतानुसार यह प्रकृति और पुरुष का रूपक है। कुब्जा के तीन अंगों में

* The Glory that was Gurjaradesa. K. M. Munshi पृ० १२७

टेढ़ापन था। कृष्ण ने अपने हाथ से उसके कूबड़ को दूर कर दिया। यह सांख्य-कथित विषमावस्था को समता का रूप देना है।

पूतना के लिए भी किसी ने कहा है वह धाय थी, कोई कहते हैं पक्षी, कोई कहते हैं राक्षसी। सुश्रुत ने अपने उत्तरतंत्र में कहा है कि पूतना बच्चों की एक बीमारी होती है। शायद इसी को लक्ष्य में रखकर आचार्य ध्रुव ने कहा है—

"पूतनानी कथा ए बतावे छे के छोकरां ने उपद्रव करनारा रोगनी पाछल एवी कोई शक्ति नथी के जेना करतां विश्वमां प्रवर्तती कल्याणी शक्ति अधिक न होय।"[1]

कालीय के लिए कहा जाता है कि वह एक नाग सरदार था। कृष्ण ने उसे जाति सहित वहाँ से हटने पर विवश किया था। डा० भगवानदास कहते हैं—यह इन्द्रियों पर विजय है।

कृष्ण की रास-लीला के संबन्ध में श्री कन्हैयालाल मुंशी लिखते हैं—

"सामूहिक नृत्य और गान की ओर उनकी गोप-सुलभ रुचि थी और ये नृत्य कृष्ण की अत्यन्त कलात्मक और जीवन्त प्रकृति की अभिव्यक्ति मात्र थे।"[2]

किसी-किसी पाश्चात्य विद्वान् ने तो यहाँ तक कह दिया कि कृष्ण की कल्पना ईसवी सदी के बाद की है। उनकी दृष्टि में ईसामसीह की भेड़ों के स्थान में गायें जोड़ली गई—इस प्रकार कृष्ण को गोपाल कहने लगे। क्राइस्ट और कृष्ण में शब्द-साम्य तो है ही, किन्तु ऋग्वेद के निम्नलिखित सूक्त में 'गोप' शब्द का प्रयोग हुआ है जिससे इस प्रकार के सिद्धान्तों की निःसारता सहज ही सिद्ध हो जाती है।

"त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः अतो धर्माणि धारयन्। विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा।"

कृष्ण संबन्धी समस्याओं से संबन्ध रखनेवाला बहुत कुछ साहित्य आज उपलब्ध है जिसपर भली भाँति अन्वेषण और अनुसंधान किया जाना चाहिए। आचार्य ध्रुव के शब्दों में "कृष्ण एक अलौकिक सामर्थ्यवान यादव क्षत्रिय थे। दुखियों के साथी, अन्याय का दमन करने वाले, स्त्री-प्रेम का सच्चा गौरव समझनेवाले, परदुखभंजक वीर, विशाल दृष्टि संपन्न धर्मसुधारक और गीता के

---

१ आपणो धर्म (आचार्य आनन्दशंकर बापू भाई ध्रुव): पृ० ७५८

2 " He has the usual Gopa taste for group dancing and singing and these dances are rather a manifestation of Krishna's richly artistic and vital nature."—The Glory that was Gurjaradesa (K. M Munshi) (P. 122.)

महान् उपदेष्टा आचार्य थे। भक्त और ज्ञानी मधुसूधन सरस्वती ठीक ही कह गये हैं—"कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने।"

रास लीला का तत्त्व

भागवत में जिस रासलीला का वर्णन है वह देहधारी मनुष्य द्वारा किया हुआ शारीरिक रास नहीं है, यह भागवत से ही स्पष्ट हो जाता है। रास के समय कृष्ण की अवस्था ७ वर्ष की थी। गोपियों ने कृष्ण से कहा था कि हम विषय मात्र का त्याग करके तुम्हारी शरण में आई हैं, इसलिए जिस तरह से आदि पुरुष मुमुक्षुओं को स्वीकार करता है, उसी तरह तुम हमें शरण दो। तुम देहधारियों की आत्मा हो, इसलिए सबसे अधिक प्रिय हो। इसलिए हे परमेश्वर! तुम हम पर कृपा करो। रास रमते समय गोपियों को अब अपने सौभाग्य पर गर्व हो आया तो कृष्ण उसी समय अदृश्य हो गये; और जिस गोपी के प्रति कृष्ण की विशेष भावना थी उसे भी जब अभिमान हो गया तब भी कृष्ण लुप्त हो गये। तब तो गोपियों को पूरा विश्वास हो गया कि कृष्ण कोई सामान्य गोपकुमार नहीं है, वह तो प्राणी मात्र का अन्तरात्मा है। जितनी गोपियाँ थीं उतने ही रूप कृष्ण ने धारण कर लिए थे। कुछ ग्रन्थों में यह भी वर्णन मिलता है कि दो-दो गोपियों के बीच में एक-एक कृष्ण थे और दो-दो कृष्ण के बीच में एक-एक गोपी थी। गोपियों के पतियों को भी कृष्ण पर द्वेष उत्पन्न नहीं हुआ क्योंकि उन्हें तो गोपियाँ घर में अपने पास ही दिखलाई पड़ती थीं। रास-माहात्म्य में भी कहा गया है कि इससे भगवान के प्रति परम भक्ति उत्पन्न होती है।

हरिवंश या भागवत पुराण में ही रास-लीला का सबसे पहले वर्णन नहीं हुआ है। ऋग्वेद की निम्नलिखित ऋचा में रास-लीला के बीज पाये जाते हैं—

पद्या वस्ते पुरुरूपा वपूंष्यूर्ध्वा तस्थौ त्र्यविं रेरिहाणा।
ऋतस्य सद्म विचरामि विद्वान् महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥

अर्थात् वह चलने के लिए अनेक रूपों वाले शरीर धारण करता है और उसके उपरांत उसका एक रूप ऊँचा स्थित रहता है। हर एक कृष्ण के दोनों तरफ दो गोपियां हैं। मैं ऋत के सदन में विचरण करता हूँ—देवताओं का यह अद्भुत काम है।

भागवत में ही यह भी कहा गया है कि कृष्ण परमेश्वर हैं और गोपियां परमेश्वर की शक्तियाँ हैं। परमेश्वर इन शक्तियों के साथ विचरण करता है और जगत की सब क्रियाओं को चलाता है। देखिये भागवतकार क्या कह रहे हैं:—

"रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः ।" यह भी कहा गया है कि गोपियाँ श्रुतियाँ तथा स्मृतियाँ हैं और ये श्रुतियाँ तथा स्मृतियाँ भागवत का ही गान करती रहती हैं। वेद में विष्णु सूर्य के रूप कहे गये हैं। गोपियाँ उस सूर्य की किरणें हैं; सूर्य के साथ उसकी किरणें भी चक्कर लगाती हैं।

परमात्मा और जीव के बीच में जो अलौकिक सम्बन्ध है, मनुष्य की वाणी द्वारा उसका पूरा-पूरा वर्णन नहीं किया जा सकता। ईश्वर मनुष्य का पिता, बन्धु, सखा, प्रियतम अथवा प्रियतमा है—इस तरह की अनेक कल्पनाएं मनुष्य ने की हैं किन्तु यह तो अभिव्यक्ति का एक प्रयत्न मात्र है, संपूर्ण अभिव्यक्ति नहीं। प्रायः यह कहा जाता है कि परमात्मा और जीव के सम्बन्ध को प्रकट करने के लिए तो मौनावलम्बन ही एक सर्वश्रेष्ठ उपाय है किन्तु मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह वर्णन किये बिना भी रह नहीं सकता। यह सत्य है कि इन्द्रियों की वहाँ तक पहुँच नहीं, बुद्धि की वहाँ तक गति नहीं किंतु सर्जनशील कल्पना उस सम्बन्ध को प्रकट करने के लिए प्रतीकों तथा व्यंजना का आश्रय लेती है। प्राचीन जमाने में पुराण कथाओं तथा रूपकों द्वारा गंभीर से गम्भीर बातें लोगों के सामने रखने का प्रयत्न हुआ है। इन कथाओं तथा रूपकों का कोई निश्चित अर्थ नहीं होता। जीवन की आवश्यकताओं के अनुरूप उनका अर्थ भी घटित किया जा सकता है।

रूपक—कथाओं के अक्षरार्थ पर यदि हम आग्रह करें तो हम अर्थ का अनर्थ करेंगे। अरस्तू ने भी एक स्थान पर कहा है कि इन रूपक-कथाओं के अक्षरार्थ पर ध्यान न देकर व्यंग्यार्थ को लेकर ही इन कथाओं को घटित करना चाहिए। बुद्धिवादियों ने पुराण आदि ग्रन्थों की जो कटु आलोचना की है उसका एक प्रधान कारण यह है कि उन्होंने व्यंग्यार्थ पर अपनी दृष्टि नहीं रखी, रूपक वर्णन को अक्षरशः सत्य मानकर ही उन्होंने अपने विचार प्रकट किये। सृष्टि की रचना सात दिन में नहीं हुई तथा हव्वा का जन्म आदम की पसलियों से नहीं हुआ, यह सिद्ध करना सरल है। रूपक-कथाओं को रूपक कथाओं के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए।

रास-लीला भी एक रूपक और अलौकिक वस्तु है; उसके सम्बन्ध में सामान्य नर-नारी जैसे अमर्यादित शृंगार का वर्णन उचित नहीं। रास-लीला को लेकर जिन कवियों ने अपनी ही विकृत वासनाओं का वमन किया है, उन्होंने भक्ति-मार्ग की कोई सेवा नहीं की।

यहाँ पर एक दूसरे प्रसंग का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है। भाग-

वत में बतलाया गया है कि कर्मकाण्ड में उलझे हुए तथा ज्ञान-मार्ग का गर्व करने वाले ब्राह्मण तथा ऋषि परमात्मा का पार नहीं पा सके किन्तु साधन हीन एवं निरक्षर ब्राह्मण-पत्नियों, गोप-कुमारिकाओं तथा गोप-वधुओं ने केवल हृदय की शुद्धि तथा भक्ति की एकाग्रता द्वारा देहधारी मानव में भगवान के दर्शन किये। यह भक्तियोग का मर्म तथा भागवत धर्म का मुख्य संदेश है। गुप्तजी ने भी 'द्वापर' में इस प्रसंग का सुन्दर विवेचन किया है।

भागवत का भली भाँति अध्ययन कर यदि हम रास-लीला के तत्व को समझना चाहें तो समझ सकते हैं।

२५

सच्चा निबन्ध किसे कहें ?

भोजनके बाद सोफापर बैठकर सिगरेटके कश खींचते हुए जैसे कोई जिन्दादिल मजेदार अनुभवी व्यक्ति अपने मनोरंजक अनुभव सुना रहा हो—कुछ-कुछ इसी तरह का है सच्चे निबन्ध का वातावरण। इसीलिए निबन्धको 'किसी मजेदार और बहुश्रुत व्यक्तिके भोजनोत्तर एकान्त सम्भाषण' की संज्ञा दी गयी है। यह सच है कि प्रत्येक व्यक्तिकी व्यक्तिगत बातें सुनना हमें अच्छा नहीं लगता—एक नीरस व्यक्ति हमारी इच्छाके विरुद्ध जो स्पष्ट शब्दोंमें चाहे व्यक्त न हो रही हो किन्तु जिसकी ध्वनिमें सन्देहकी कहीं गुंजाइश नहीं, जब अपनी सर्वसामान्य रुखी-सूखी-थोथी बातें हमपर लादता चला जाता है उस समय ऐसी बेचैनीका अनुभव होता है जिसे भुक्तभोगी ही जानते हैं। उस समय इच्छा होती है कि किसी प्रकार यह अपना पचड़ा समाप्त करे और अपना रास्ता ले—हठात् हम मन ही मन कहने लगते हैं—भगवान् बचावे हमें ऐसे दोस्तों से! किन्तु ठीक इसके विपरीत हमारी इच्छा होती है कि एक अनुभवी व्यक्ति हमें अपने दिलचस्प अनुभव सुनाता ही चला जाय—शर्त यह है कि सुनानेवाला व्यक्ति बहुश्रुत हो, उसके सुनानेका ढंग रोचक हो और वह व्यक्ति भी स्वयं मजेदार हो। ऐसा व्यक्ति हमें अपनी बातोंसे मुग्ध कर सकता है—हँसी-हँसीमें वह इस प्रकारका ज्ञान और अनुभव बाँटता चलता है जिसको हम स्वीकारते चले जाते हैं। बातकी बातमें ही वह हमें जीवनकी बड़ी-बड़ी सारगर्भित बातें सुना जाता है—न हमें इसका पता चलता है कि क्यों उसने ये बातें सुनाईं, न हम यही जान पाते हैं कि क्यों हमने ये सब बाते सुनीं और क्या हमारे पल्ले पड़ा—ऐसी ही हवा को साथ लेकर सच्चे निबन्ध का सौरभ फैलता है। किसीने निबन्धको 'हँसी हँसीमें ज्ञान वितरण' के नामसे जो अभिहित किया है वह यथार्थ ही जान पड़ता है।

डा० जानसनकी दी हुई निबन्धकी परिभाषा तो प्रसिद्ध ही है अर्थात् निबन्ध मनकी उस शैथिल्य भरी तरंगका नाम है जिसमें क्रम-बद्धता नहीं मिलती, जिसमें विचारोंकी परिपक्वताका भी अभाव दिखलाई पड़ता है। डा० जानसन स्वयं अपने ढंगके एक अच्छे निबन्ध-लेखक थे, और यह भी ध्यान में रखने की बात है कि निबन्ध-विषयक उनकी परिभाषा भी अत्यन्त लोकप्रिय हुई

किन्तु फिर भी उनकी परिभाषाको हम निर्दोष नहीं मान सकते और सच तो यह है कि किसी भी परिभाषा के लिए निर्दोष बन सकना उतना सरल काम नहीं जितना आपाततः दिखलाई पड़ता है। निबन्ध में क्रमबद्धता न हो यह तो माना जा सकता है किन्तु यह कैसे स्वीकार किया जाय कि निबन्ध उस महाभागकी रचना है जिसे बुद्धि का अजीर्ण हो गया हो! कहाँ तो अजीर्ण बुद्धि का वमन और कहाँ हँसी-हँसी में ज्ञान विज्ञान का वितरण—इन दोनों परिभाषाओं में कितना अन्तर, कितना वैपरीत्य है! सम्भव है इस प्रकार की असम्बद्ध बुद्धि की अजीर्णता को भी निबन्ध की संज्ञा मिल गयी हो किन्तु जिन्होंने मानटेन, ऐडीसन, लैम्ब, काउले, बेकन, कार्लाइल तथा सरदार पूर्णसिंह एवं आचार्य शुक्ल आदिके निबन्धों को पढ़ा है उनको साक्षी देकर कहा जा सकता है कि 'बुद्धिकी अजीर्णता' का प्रयोग करनेके लिए उनके निबन्ध नहीं हैं।

'ऐसे' शब्दकी उद्भावना फ्रांसके मानटेन द्वारा हुई जो निबन्ध का जनक समझा जाता है। उसका कहना था कि मेरी इस प्रकार की रचना साहित्यकी एक विशिष्ट नूतन पद्धति के सम्बन्ध में प्रयास मात्र है—ऐसा निर्लिप्त प्रयास जिस में एक पक्ष के ग्रहण और दूसरे के त्यागका आग्रह नहीं। दुनिया जैसी है वैसी ही रहे, चरम सत्यका जो बहुमुखी रूप है वह भी ज्योंका त्यों धरा रहे किन्तु सच्चा निबन्ध लेखक अपनी आँखों से दुनिया को जिस रूपमें देखता है, सत्यके अनन्तमुखी देव के जितने मुख उसने देखे हैं, उनका वह उद्घाटन करता चलता है। वस्तुतः देखा जाय तो वह दुनियाका उतना दर्शन नहीं कराता जितना अपनी ही मूर्तिका दर्शन दुनियाको कराता है।

पहले यह समझा जाता था कि लेखक को निबन्ध में अपना व्यक्तित्व प्रदर्शित नहीं करना चाहिये। यही कारण है कि निबन्धोंमें उत्तम पुरुष सर्वनामका प्रयोग भी वर्जित कर दिया गया। हास्यको भी तब कोई विशेष महत्त्व प्राप्त न था। किन्तु इस प्रकारकी स्थिति बहुत समय तक न रही। स्वाभाविकता से अपने भावों को प्रकट कर देना ही जिसमें दर्पणके प्रतिबिम्बकी तरह लेखक का व्यक्तित्व झलक उठे सच्चे निबन्ध का लक्षण समझा गया। जिस निबन्ध में वर्ण्य-विषय तो हो किन्तु व्यक्ति नदारद हो वह सच्चे अर्थमें निबन्ध ही नहीं। सच्चा निबन्ध-लेखक वर्ण्य विषय का उतना प्रस्फुटन नहीं करता जितना वह अपने व्यक्तित्वको प्रस्फुटित करता है। कभी-कभी विषय भी रुचिकर हो सकता है किन्तु निबन्धमें सच्ची दिलचस्पी इसी कारण पैदा होती है कि कहनेवाला एक व्यक्ति है। लेखकका व्यक्तित्व जितना ही आकर्षक होगा, उतना ही वह हमें अधिकाधिक प्रभावित करेगा। यदि दो लेखक एक ही ढंगसे किसी विषयका वर्णन करें तो इसका मतलब तो यह हुआ कि उस विषयने ही

लेखकों पर अपना अधिकार जमा लिया है, लेखकों का उस पर कोई अधिकार नहीं। मानटेन जैसा निबन्ध-लेखक वर्ण्य-विषयके साथ स्वच्छन्द विहार करता है। उसकी पुस्तक का जो स्पर्श करता है, वह वस्तुतः मानटेन के व्यक्तित्व का ही स्पर्श करता है। इस प्रकारका निबन्ध-लेखक उन असंख्य छोटी छोटी वस्तुओं में भी ऐसे-ऐसे तत्त्व ढूँढ़ निकालता है जिनकी पाठकों ने स्वप्न में भी कल्पना न की होगी। उसके विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सृष्टि की कोई भी वस्तु तुच्छ व नगण्य नहीं है। लेखक के व्यक्तित्व से स्पन्दित होकर वह महत्वपूर्ण हो उठती है। आकर्षण की वस्तु वास्तव में विषय नहीं, लेखक का व्यक्तित्व ही आकर्षित करनेवाला होता है।

किसी भी प्रकार के नियम को मानकर चलना ऐसे निबन्ध-लेखक की प्रकृतिके प्रतिकूल है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इस प्रकारके लेखककी कृति छिन्न-भिन्न निरर्थक वस्तु होती है। मानटेन अपने निबन्धों में विषयान्तर करता-सा जान पड़ता है किन्तु अन्तमें वह सूत्रको इस प्रकार घुमाता है कि विषयान्तर नहीं रह जाता, उसमें भी एक प्रकार की कलात्मक सम्पूर्णता आ जाती है। मानटेनके ढंगके सच्चे निबन्ध तभी लिखे जा सकते हैं जब—

१—लेखकका व्यक्तित्व आकर्षक हो।

२—उसका हृदय संवेदनशील हो।

३—सूक्ष्म निरीक्षणकी उसमें असाधारण शक्ति हो।

४—जीवनकी विशद अनुभूति हो।

५—मनुष्यों तथा समाजके रीति-रिवाजों से उसका सजीव परिचय हो।

२६

रहस्यवाद का मनोविज्ञान

हिन्दी साहित्य में ऐसा कोई निबन्ध मेरे देखने में नहीं आया जिसमें रहस्यवाद के मनोविज्ञान पर विचार प्रकट किये गए हों, किंतु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी रहस्यवाद पर विचार किया जा सकता है जैसा कि नीचे के विवेचन से स्पष्ट होगा।

हरि-रस के नशे में छके हुए रहस्यवादियों का कहना है कि हम जो ध्वनियां सुनते हैं और जो दृश्य देखते हैं, वे सब दिव्य अभिव्यक्ति के ही रूप हैं। अण्डरहिल आदि ने अपने ग्रन्थों में इन ध्वनियों और दृश्यों का वर्णन किया है। दूसरी बात यह है कि रहस्यवाद किसी देश-विशेष की उपज नहीं। सभी देशों के इतिहास में ऐसे रहस्यवादियों का वर्णन मिलता है, जिनको दिव्य अनुभूतियाँ हुई हैं। इससे जान पड़ता है कि रहस्यात्मक अनुभूतियों की सत्तामें सन्देह नहीं किया जा सकता।

इन दिव्य अनुभूतियों के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि सब देशों के रहस्यवादियों की अनुभूतियां बिल्कुल एक-सी हों, ऐसी बात नहीं है। इसके अतिरिक्त जिस रहस्यवादी का मानसिक ढांचा जिस ढंग से बना हुआ हो, उसी तरह की अनुभूति उसको होती है। कृष्ण के भक्त को कृष्ण के दर्शन होते हैं, ईसा मसीह के नहीं। किसी भी हिन्दू रहस्यवादी ने कभी यह नहीं बतलाया कि आसमान से उड़ता हुआ कोई फरिश्ता उसके पास आया और बातचीत करने लगा। अगर हम रहस्यवादियों के प्रारंभिक जीवन का अध्ययन करें तो हमें इस बात का पता चलेगा कि जिस प्रकार के वातावरण में उनका पालन-पोषण हुआ, जैसी शिक्षा-दीक्षा उनको मिली, उसी सांचे में उनका जीवन भी ढल गया।

दिव्य-दर्शन की दो ढंग से व्याख्या की जा सकती है :—

१—परमात्मा अपने भक्तों के सामने उन्हीं रूपों में प्रकट होता है, जो रूप भक्त को प्रिय हैं। परमात्मा का तो कोई रूप-रंग है नहीं, वह भक्तों के लिए ही रूप धारण करता है और जिस रूप में भक्त अपने प्रभु से मिलने की आशा करता है, उसी रूपमें वह उसको दर्शन देता है। रामकृष्ण परमहंस ने

हिन्दू देवी-देवताओं के अतिरिक्त ईसा मसीह और मुहम्मद का भी साक्षात्कार किया था।

१—रहस्यवादी की कोई अतृप्त इच्छा ही जब किसी वस्तु का रूप धारण कर उसके सामने प्रत्यक्ष होती है, तभी उसको वह दिव्य अनुभूति कहने लगता है। किन्तु इस प्रकार की दिव्य अनुभूतियों का सम्बन्ध मनोविज्ञान से है। रहस्यवादी के अचेतन मन में किसी अनुभूति की जब उत्कट इच्छा होती है तो उसका अचेतन मन उसके लिए उसका रूप खड़ा कर देता है। यह सच है कि इस आश्चर्य जनक व्यापार में चेतन मनका हाथ नहीं रहता और अचेतन मनकी करतूतों का चेतन मनको पता नहीं रहता। अचेतन मन धीरे-धीरे अपनी किसी अतृप्त इच्छा की संतुष्टि के लिए रूप-निर्माण करता रहा। जब वह रूप बनकर बिलकुल तैयार हो गया और चेतन मन पर उसका प्रतिबिम्ब पड़ा, तब यह कहा जाने लगा कि इस प्रकार का दिव्य दर्शन तो नितान्त अलौकिक है, आश्चर्यजनक एवं अद्भुत है। सच तो यह है कि तथाकथित रहस्यवादी जब भौतिक संघर्षों से बचना चाहता है, तब वह रहस्यवाद में शरण ढूँढ़ता है। इस दृष्टि से विचार करने पर रहस्यवाद पलायन वृत्तिका परिणाम ठहरता है। हिन्दी के रहस्यवादी कवि प्रसाद की निम्नलिखित पंक्तियाँ पलायनवाद का ही उदाहरण उपस्थित करती हैं—

> ले चल मुझे भुलावा देकर, मेरे नाविक धीरे-धीरे
> जिस निर्जन में सागर-लहरी, अंबर के कानों में गहरी
> निश्छल प्रेम-कथा कहती हो, तज कोलाहल की अवनी रे ॥

किंतु कुछ भी हो, रहस्यवादी दार्शनिक मनोवैज्ञानिकों के दृष्टिकोण से सहमत नहीं हो पाते। उनका कहना है कि रहस्यवादी दो लोकों का नागरिक होता है—इस लोक का तथा दिव्य लोक का। रहस्यवादियों के दिव्य लोकका मनोवैज्ञानिकों को पता नहीं, इसलिए अज्ञात वस्तु पर मत स्थिर करना उनकी अनधिकार चेष्टा है, एक प्रकार का उपहासास्पद व्यापार है, जिसे सुनकर रहस्यवादियों को सचमुच हँसी आती है।

इस लेख में तथ्यान्वेषण का प्रयास नहीं है, इसमें रहस्यवाद की मनोवैज्ञानिक पद्धति की केवल व्याख्या की गयी है।

२७

काव्य की आठ माताएं

राजशेखर ने अपनी काव्य-मीमांसा में काव्य की आठ माताओं का उल्लेख किया है जैसा कि निम्नलिखित पद्य से स्पष्ट है—

> स्वास्थ्यं प्रतिभाऽभ्यासो, भक्तिर्विद्वत्कथा बहुश्रुतता।
> स्मृतिदार्ढ्यमनिर्वेदश्च, मातरोऽष्टौ कवित्वस्य॥

अर्थात् स्वास्थ्य, प्रतिभा, अभ्यास, भक्ति, विद्वत्कथा, बहुश्रुतता, स्मृति की दृढ़ता और अनिर्वेद—ये काव्य की आठ माताएँ हैं। इन आठ माताओं में पहला स्थान राजशेखर ने 'स्वास्थ्य' को दिया है। 'स्वास्थ्य' से राजशेखर का चाहे जो अभिप्राय रहा हो, इस शब्द के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को लेकर यदि हम विचार करें तो कहा जा सकता है कि काव्य के लिए सबसे अधिक आवश्यकता इस बात की है कि कवि की मनोदशा काव्य की रचना करने जैसी हो, कवि अपने में स्थित हो, प्रकृतिस्थ हो। 'स्वास्थ्य' शब्द का अर्थ है 'अपने में स्थित होना।' मछली जब जल में रहती है तब वह अपनी प्रकृति में स्थित है, योगी जब समाधिस्थ है तब वह अपनी प्रकृति में स्थित है, हरि-रस का पान करने वाला भावुक भक्त जब भावोन्माद के वशीभूत होकर झूमने लगता है और जब उस पर एक प्रकार की खुमारी छा जाती है तब वह अपनी प्रकृति में स्थित है जैसा कि कबीर ने कहा है :—

> "हरि-रस पीया जाणिये, कबहुं न जाय खुमार।
> मैमंता घूमत फिरै, नाही तन की सार।"

इसी प्रकार कवि भी जब हृदय की योग-दशा में पहुँच जाता है, तभी वह सुन्दर काव्य की सृष्टि कर पाता है। इस प्रकार का भावयोग ही कवि का 'स्वास्थ्य' कहा जा सकता है। मिल्टन के लिए तो प्रसिद्ध है कि अन्धे हो जाने के बाद अर्ध-रात्रि के समय भी यदि वे भाव-योग की अवस्था में पहुँच जाते तो अपनी लड़कियों को जगाकर पंक्तियों पर पंक्तियां उन्हें लिखाते चले जाते थे। राजस्थान के महाकवि श्री सूर्यमल्ल मिश्रण के लिए भी कहा जाता है कि जब वे भावावेश की अवस्था में होते उस समय उनके मुख से निकली हुई कविता को लिपि-बद्ध करने के लिए एक साथ कई लेखकों की आवश्यकता हुआ करती थी। 'स्वास्थ्य' को यदि हम सर्व प्रचलित सामान्य अर्थ में ग्रहण

करें तब भी काव्य रचना के लिए 'स्वास्थ्य' आवश्यक है।

काव्य की आठ मताओं का उल्लेख करने के पहले राजशेखर ने कहा है कि प्रतिभा ही काव्य का एक मात्र हेतु है किन्तु जब वह प्रतिभा और व्युत्पत्ति के तुलनात्मक महत्व का विवेचन करने लगता है तब वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों सम्मिलित रूप में ही काव्य के हेतु कहे जा सकते हैं। मम्मट ने भी अपने काव्य-प्रकाश में कहा है कि प्रतिभा, लोक, शास्त्र, काव्यादि के अवेक्षण से उत्पन्न निपुणता तथा काव्यज्ञों के आदेशानुसार अभ्यास—ये तीनों जब सम्मिलित रूप में दिखलाई पड़ते हैं तभी काव्य का सच्चा हेतु उपस्थित होता है। प्रतिभा के बिना यदि काव्य रचना में कोई प्रवृत्त होता है तो उसका प्रयास उपहासास्पद समझा जाता है। ऐसा भी हो सकता है कि किसी व्यक्ति में काव्य-निर्माण की प्रतिभा तो हो किन्तु अभ्यास के अभाव में प्रतिभा का स्फुरण न हो, प्रतिभा प्रच्छन्न ही रह जाय। इसीलिये रस गंगाधर के प्रणेता पंडितराज जगन्नाथ ने कहा है कि कुछ काल तक काव्य-रचना में असमर्थ होते हुये भी कभी-कभी व्युत्पति और अभ्यास के कारण किसी-किसी व्यक्ति में प्रतिभा का प्रादुर्भाव हो जाता है।

राजशेखर के मतानुसार काव्य की चौथी माता है 'भक्ति'। भक्ति का अर्थ केवल ईश्वर-भक्ति नहीं, भक्ति को सभी भावों के उपलक्षण के रूप में ग्रहण करना चाहिए। कवि के लिए भाव-प्रवणता अत्यन्त आवश्यक है। कविता केवल बौद्धिक व्यापार नहीं, वह मुख्यतः हृदय का क्रीड़ा-क्षेत्र है। काव्य के द्वारा हृदय ही कागज पर उतारा जाता है; कविता वास्तव में हृदय की वाणी है, भावुकता की भाषा है। तत्वज्ञान भी जब कविता के क्षेत्र में पदार्पण करता है तब वह अपना काला चोगा उतार कर भावुकता का रागारुण बाना धारण कर लेता है। विद्वत्कथा को राजशेखर ने जो काव्य की एक माता के रूप में स्वीकार किया है उसका मुख्य कारण यह है कि विद्वानों की कथा सुनते रहने से बड़ी प्रेरणा मिलती है; व्युत्पत्ति और अभ्यास का प्रयत्न भी मनुष्य करने लगता है। विद्वत्कथा के द्वारा पुराने संस्कार भी सजग हो उठते हैं।

बहुश्रुत होना कवि के लिये अनिवार्यतः आवश्यक है। आज के युग में तो बहुश्रुतता और भी वाँछनीय हो गई है। प्राचीन जमाने का कवि जब काव्य लिखने बैठता था, उस समय यातायात के साधनों के अभाव तथा प्रेसादि की असुविधा के कारण वह अपनी सीमाओं से बँधा रहता था किन्तु आज वैज्ञानिक उन्नति के कारण वस्तुओं की कटी-छँटी सीमाएँ विलीन हो रही हैं, विश्व का साहित्य आज हमारे सामने पड़ा है। आज का कवि केवल

अपने देश की विचार-धारा से ही प्रभावित नहीं होता; दूसरे देशों की विचार धारा भी उसे किसी न किसी रूप में प्रभावित किये रहती है।

जहाँ तक स्मृति की दृढ़ता का सवाल है, कवि के लिए उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जब कवि काव्य-रचना में प्रवृत्त होता है, उस समय तन्मयता के कारण उसकी चेतना एक विशेष बिन्दु पर केन्द्रित हो जाती है; स्मृति की दृढ़ता के कारण इतर वस्तुओं को वह एक प्रकार से आत्म-विस्मृत किये रहता है।

अनिर्वेद से तात्पर्य है खिन्नता का अभाव। काव्य का वातावरण उल्लास का वातावरण है। कवि दुःख को भी जब अपने काव्य का विषय बनाता है तब दुःख भी उसके लिए सुखद रूप धारण कर लेता है; बहुत से कवि तो अपने दुःख को हलका करने के लिए कभी-कभी दूसरों के दुःख का वर्णन करते देखे गए हैं। राजशेखर ने काव्य की जिन आठ माताओं से हमारा परिचय कराया है, उन्हें हम इस लेख द्वारा अपनी श्रद्धांजलि अर्पित कर रहे हैं।

२८

शैली-सम्बन्धी कुछ ऊहापोह

वर्ड् सवर्थ ने साहित्य को दो भागों में विभाजित किया है-कल्पनात्मक और अकल्पनात्मक। डीकेंसी कहते हैं साहित्य दो तरह का होता है (१) प्रभावशाली और (२) ज्ञानवर्द्धक। प्रभावशाली साहित्य लेखक के व्यक्तित्व और उसकी आत्मानुभूतियों से ओत-प्रोत रहता है, उसमें वस्तु जैसी है उसका वैसे ही वर्णन नहीं किया जाता, वहाँ लेखक वस्तुगत अपनी अनुभूति का चित्रण करता है। ज्ञान-वर्द्धक साहित्य नई सूचनाएँ तो देता है किन्तु हृदय का स्पर्श नहीं करता; उसका सम्बन्ध बौद्धिक व्यापार अथवा दिमागी कसरत से ही विशेष रूप से रहता है। किन्तु जो रचना स्वानुभूतिमयी है उसमें पाठक भी लेखक की अनुभूति से प्रभावित होता है; हृदय से निकली हुई बात हृदय को स्पर्श किये बिना नहीं रहती। हिन्दी साहित्य निबन्ध-लेखकों म जयशंकरप्रसाद और सरदार पूर्णसिंह की तुलना कीजिए। प्रसाद के निबन्धों में ज्ञान-विवर्धन तो बहुत है किन्तु वह आंतरिक स्पर्श नहीं जो सरदार पूर्णसिंह के लेखों में है। ऋषियों के लिए जैसे कहा जाता है कि वे मन्त्र-कर्ता नहीं, मन्त्र द्रष्टा थे, उसी प्रकार सरदार पूर्णसिंह के निबन्धों को पढ़ते हुए भी जान पड़ता है कि लेखक जिस सत्य का प्रतिपादन कर रहा है, उसके साथ उसकी केवल बौद्धिक सहानुभूति ही नहीं है, वह उस सत्य का प्रत्यक्ष द्रष्टा है और चाहता है कि पाठक भी उसी की आँखों से उस सत्य को देखें।

यहाँ पर एक दूसरी प्रासंगकि बात पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। क्या कवि वही है जिसने छन्दों में काव्य की सृष्टि की है और क्या गद्य लेखक कवि नहीं होते ? वर्ड् सवर्थ ने गद्य और पद्य के अन्तर को तो स्वीकार किया है किन्तु काव्य और गद्य के अन्तर को उसने आकस्मिक या वैज्ञानिक माना है। संस्कृत में बाणभट्ट की कादम्बरी यद्यपि गद्य में लिखी गई है किन्तु फिर भी वह किस महाकाव्य से कम है ? डा० रघुवीरसिंह, श्री माखनलालजी चतुर्वेदी तथा सरदार पूर्णसिंह ने जो गद्यात्मक निबन्ध लिखे हैं, उनके पढ़ने में क्या काव्य का-सा आनन्द नहीं आता ?

हम यह मानते हैं कि काव्य में कल्पना का आनन्द है किन्तु गद्य में भी कल्पना के लिये विशाल क्षेत्र पड़ा है । सिसरो या न्यूमैन के गद्य उदाहरणस्वरूप रखे जा सकते हैं । गिबन और लिवी आदि भी कोरे वस्तु चित्रण करने वाले लेखक नहीं हैं किन्तु किसी वस्तु को जिस रूप में उन्होंने देखा है उसका वैसा ही चित्रण उन्होंने किया है ।

सच्चा कलाकार विद्वान् तो हो सकता है किन्तु विद्वत्ता-प्रदर्शन की प्रवृत्ति उसमें नहीं होती । संयम को वह आवश्यक समझता है । अच्छे कलाकार में यह समझ होनी चाहिए कि वह कौनसी वस्तु को ग्रहण करे और कौनसी को छोड़ दे । एक ही वस्तु का भिन्न-भिन्न लेखक भिन्न-भिन्न ढंग से वर्णन करते हैं किन्तु सबकी अभिव्यक्ति सुन्दर नहीं होती-अभिव्यक्ति का सुन्दरतम ढंग तो वास्तव में एक ही होता है । इस समय स्व० देशभक्त ऐण्ड्रूज द्वारा प्रकट किये हुए एक उपाख्यान का स्मरण हो रहा है । ऐण्ड्रूज कहते हैं— "गीतांजलि लिख कर जब गुरुदेव ने मुझे सुनाई, तब मैंने देखा कि वह सब प्रकार से परिपूर्ण और निर्दोष रचना बन पड़ी है । वह सम्पूर्ण रचना एक ऐसे अपूर्व छन्दोमय गद्य में लिखी गई थी, जिसका कुछ स्वाद मैंने उपनिषदों की भाषा में पाया था, किन्तु हमारे अँग्रेजी साहित्य के निकट यह गद्य-छन्द सर्वथा अभिनव वस्तु थी । गुरुदेव ने मुझ से कहा कि अंग्रेजी भाषा की दृष्टि से और अंग्रेज के नाते मैं उसमें, जहां जरूरत हो, सुधार कर दूँ । रचना इतनी निर्दोष थी कि उसमें सुधार की कहीं गुंजाइश ही नहीं थी । पूरी पुस्तक में सिर्फ पांच स्थानों में मुझे ऐसा लगा कि परिचित और प्रचलित शब्दों की जगह पांच अप्रचलित शब्दों का प्रयोग हुआ है । ये पांच स्थान मैंने ससंभ्रम उन्हें बता दिये, और गुरुदेव ने अपने सहज औदार्य को लेकर तत्काल उन स्थानों में सुझाए हुए प्रचलित शब्द रख भी दिए । किन्तु जब इंगलैंड में वह वहाँ के सर्वश्रेष्ठ साहित्यिकों-ईट्स, रोथेन्स्टीन, एजरापौण्ड आदि-के बीच 'गीतांजलि' पढ़ कर सुना रहे थे, तब उन लोगों ने सुनकर और मुग्ध होकर एक बात कही थी । उन्होंने कहा कि आपकी यह रचना सब प्रकार से परिपूर्ण है, किन्तु केवल पांच ही स्थानों में ऐसा लगता है, मानो इसकी स्वाभाविक लय और छन्दोमय प्रवाह खंडित हुए हैं । कहने की जरूरत नहीं कि ये पाँच स्थान वही थे, जहाँ मेरे सुझाव के अनुसार गुरुदेव ने परिवर्तन कर दिया था । गुरुदेव ने मुझे लज्जित न करके वहाँ इतना ही कहा कि पहले मैंने अन्य पाँच शब्द व्यवहार किये थे ; किन्तु उन्हें आपकी भाषा में उतने प्रचलित न समझकर फिर बदल दिये ; वे शायद ये हैं । शब्दों को सुनते ही सब कह उठे- वाह, ठीक ये ही शब्द हैं, जो यहां एक बारगी उपयुक्त होते हैं ! इनसे रचना परिपूर्ण हो जाती

है।"* ऊपर जिस उपाख्यान का उल्लेख हुआ है, उसमें किसी प्रकार की अतिशयोक्ति न समझिये। बहुत से आलोचकों का यह कहना है कि गुरुदेव ने अंग्रेजी में गीतांजलि का जो अनुवाद किया है, उससे बढ़ कर सुन्दर अनुवाद हो ही नहीं सकता। सच्चा कलाकार शब्दों के समुचित प्रयोग का आसाधारण पारखी होता है; ऐसा नहीं कि बड़े-बड़े कलाकरों ने जिन शब्दों का प्रयोग किया है, उनके अर्थ से हम अपरिचित हों किन्तु उन्हीं शब्दों को कलाकार ऐसे भव्य विन्यास द्वारा प्रयुक्त करता है कि वे सारे संसार को मुग्ध कर लेते हैं। नीलकंठदीक्षित ने अपने 'शिवलीलार्णवमहाकाव्य' में ठीक ही कहा है—

यानेव शब्दान् वयमालपामः यानेव चार्थान् वयमुल्लिखामः
तैरेव विन्यासविशेषभव्यैः समोहयन्ते कवयो जगन्ति ॥

किन्तु प्रश्न यह है कि कलाकार के लिए जो भव्य-विन्यास सुलभ है वह औरों के लिए दुष्कर क्यों है? अंग्रेजी के एक प्रसिद्ध आलोचक वालटर पेटर ने शैली में दो गुण माने हैं—(१) मनस्तत्व और (२) आत्म-तत्व। एक को हम प्रज्ञात्मक कह सकते हैं और दूसरे को रागात्मक। पहले का सम्बन्ध बुद्धि से है और दूसरे का हृदय से।

बाबू श्यामसुन्दरदास के निबन्धों में बुद्धितत्व की प्रधानता है तथा श्री वियोगी हरि, एवं सरदार पूर्णसिंह के लेखों में रागात्मक तत्व प्रधान है। बाइबिल जैसी धर्म पुस्तकों की शैली में भी आत्म-तत्व की ही प्रमुखता मिलती है। शैली में प्रभविष्णुता और सजीवता इसी आत्म-तत्व के कारण आती है। और यह आत्म-तत्व स्वानुभूति के बिना नहीं आ पाता। जहाँ स्वानुभूति है वहां भव्य शब्दविन्यास भी अपने आप चला आता है। कुछ पुस्तकें ऐसी होती है जिनमें शब्दों के शव व्यर्थ पड़े रहते हैं; ऐसी पुस्तकें अग्नि देव के समर्पित की जानी चाहिए जिससे वह वातावरण को दूषित न कर सकें। दूसरी ओर ऐसी पुस्तकें भी हैं जिनमें शब्द किलोल करते हैं, अट्टहास करते हैं, काले सांप की तरह फुंफकारते हैं, विद्रोहात्मक स्वर को बुलन्द करते हैं, अन्धकार में रास्ता ढूंढती हुई मानवता के समक्ष आशावाद का सन्देश प्रस्तुत करते हैं, पारस्परिक सहानुभूति बढ़ाते हैं, श्रद्धा और ईश्वरीय झलक दिखला कर हृदय को उल्लसित करते हैं; एक शब्द में कहें तो ऐसे शब्दों में जीवन का स्पन्दन मिलता है, शवत्व की जड़ता नहीं। 'शिव में से इकार निकाल दीजिये, केवल शव बच रहेगा। शब्दों में से कलाकार की आत्मा को विच्छिन्न कर दीजिए, शब्द मूक और निर्जीव हो जायेंगे। सच्चा कलाकार शब्दों को जिह्वा प्रदान करता है;

* 'जनवरी १९४२ के विशाल भारत में 'सार्वभौम रवीन्द्रनाथ' शीर्षक आचार्य श्री क्षितिमोहन सेन का लेख पृ० ४।

उसके सामने शब्द हाथ जोड़े खड़े रहते हैं जहाँ वह चाहता है, उनका उपयोग करता है, और वे भी आज्ञाकारी किंकर की भांति 'क्या करूँ' क्या करूँ कहते हुए स्वामी के आदेश की प्रतीक्षा में रहते हैं। धन्य हैं ऐसे कलाकार जो शब्दों को जीभ दे जाते हैं जिससे वे शब्द युग-युग तक बोलते रहते हैं।

२६

वह क्षण भी धन्य है।

इस संसार में सौन्दर्य का जो हास—विलास हम देखते हैं वह प्रकृति का कार्य व्यापार है, कला का नहीं। हाँ, यदि हम चाहें तो इस भुवनमोहिनी प्रकृति को उस लीलामय की कला मान सकते हैं जो अनेक रूपों में अपने आपको अभिव्यक्त कर रहा है । उपनिषदों में कहा गया है कि एकाकी बने रहने में जब उस अव्यक्त को भी सुख नहीं मिला तो उसने भी बहुत्व की कामना की। उसकी कामना ही विविध विलासमयी सृष्टिके रूप में अभिव्यक्त हुई है। मनुष्य भी तो उसी अमर शक्ति का अंश है, इसलिए वह भी किसी न किसी रूप में अपने आपको अभिव्यक्त करना चाहता है। अपने आपको अभिव्यक्त करने के लिए वह बाह्य जगत् और अन्तर्जगत की कृत्रिम दीवारों को तोड़ डालना चाहता है। उसके मृदु-संगीत को, समुद्र की हिलोरों को, विहगों के कलरव को और आकाश की नीलिमा को वह रूप देना चाहता है और कभी-कभी तो वह सुश्री महादेवी वर्मा के शब्दों में एक प्रबल विस्फोटमयी इच्छा से प्रेरित होकर कहने लगता है—

> "तोड़ दो यह क्षितिज में भी देखलूँ इस ओर क्या है,
> जा रहे जिस पन्थ से युग-कल्प उसका छोर क्या है ?"

बाह्य जगत् का जो सौन्दर्य है उसे मनुष्य अपना बना लेना चाहता है, उसे अपने भाव-सूत्रों में पिरोकर वह चिरस्थायी कर देना चाहता है । जादू तो देखिये इस कलाकार का कि वह असीम नभकी नीलिमा को अपनी प्रेयसी की ससीम आँखों में ले आता है, फिर आँखें भी ससीम नहीं रह जातीं और उसका मन रूपी खग उनमें खो जाता है—

> " तुम्हारी आँखों का आकाश,
> सरल आँखों का नीलाकाश, खो गया मेरा खग अनजान...... "

वातास की मर्मर-ध्वनि को, समुद्र के गुरु-गम्भीर-गर्जन को, पक्षियों के सुमधुर कण्ठ को, झरनों के कलकल निनाद को वह अपनी कविता द्वारा बन्दी-कर लेता है। अपने शब्दों को जब वह जीभ दे देता है तो उसके शब्द कभी कलरव करने लगते हैं तो कभी क्रोध की वाणी में साकार हो उठते हैं । प्रसाद ने 'स्कन्दगुप्त' नाटक में मातृगुप्त के मुख से कहलवाया है—"कविता वर्णमय

चित्र है.....जो बाह्य जगत् का अन्तर्जगत् से सम्बन्ध कराती है।" ऊपर कहा गया है कि बाह्य जगत् में जो कुछ सुन्दर है, कवि उसे अपने अन्तर्जगत में बसा लेना चाहता है किन्तु साथ ही साथ उसके अन्तर्जगत में जो कुछ है, उसे वह बहिर्जगत को दे देना चाहता है। बाहर को अन्दर करना और अन्दर को बाहर करना—वास्तव में कला का मूल तो इसी सूत्र में निहित है।

हमारा जीवन तो चंचल है, हम तो एक प्रकार से प्रवहमान अवस्था में हैं। कलाकार बड़ा अद्भुत कार्य करता है।"चंचलता के स्रोत को वह एक क्षण के सौन्दर्य में बन्दी कर देता है; एक क्षण को, एक मुहूर्त को वह चिरत्व प्रदान कर देता है।" कौन है जो कलाकार की इस जादू भरी शक्ति के सामने सिर नहीं झुकायेगा? सौन्दर्य के किसी शुभ मुहूर्त में ही निम्नलिखित पंक्तियाँ पन्त के मुख से निकली होंगी—

"और भोले प्रेम! क्या तुम हो बने, वेदना के विकल हाथों से जहाँ
झूमते गजसे विचरते हो कहीं, आह है उन्माद है उत्ताप है।
पर नहीं तुम चपल हो, अज्ञान हो, हृदय है, मस्तिष्क रखते हो नहीं।"

अन्तिम पंक्ति में प्रेम की कितनी सुन्दर व्याख्या हुई है। वह क्षण भी धन्य है जिसमें कवि की वाणी से सौन्दर्य फूटता है--ऐसा सौन्दर्य जो युग-युग को प्रभावित करता है। और इस सौन्दर्य की अभिव्यक्ति तो किसी एक क्षण में ही होती होगी। देखिए Lessing इस सम्बन्ध में क्या कर रहे हैं—

It is to a single moment that the material limits of art confine its limitations... Furthermore, this Single moment receives through art an unchangeable duration" (Laokoon: ch. IV)

संभवतः इसीलिए किसी ने कला की परिभाषा देते हुए कहा है—'चंचल जीवन के चिरस्थायी मुहूर्त का देदीप्यमान प्रकाश है कला।"

यहाँ एक प्रश्न सहज ही उपस्थित होता है। कलाकार जिसे रूप देता है वह उसकी व्यक्तिगत अनुभूति है अथवा विश्व की सार्वजनिक अनुभूति? एक दृष्टि से तो इस प्रश्न का उत्तर ऊपर दिया जा चुका है किन्तु इस प्रश्न पर अधिक गंभीरता से विचार किए जाने की आवश्यकता है। कलाकार के अन्तःकरण में जिस सत्य का स्फुरण हुआ है, उस सत्य को वह बहिर्जगत में सत्ता प्रदान करता है। उसकी अनुभूति केवल व्यक्तिगत अनुभूति ही नहीं रह जाती, साधारणीकरण व्यापार द्वारा उसकी अनुभूति व्यक्तिनिर्विशेष बन जाती है। प्रेम के संबन्ध में पंतजी की जिन पंक्तियों का ऊपर उल्लेख हुआ है, वह अकेले कविकी अनुभूति न रहकर मानव हृदय की अनुभूति बन जाती है।

कलाके उस एक क्षण को नमस्कार है जिसमें अभिव्यक्त हुई सौन्दर्या-नुभूति कलाकार की होते हुए भी कलाकार की नहीं रह जाती और न उस अनु-भूति पर उस विशेष क्षण का ही कोई एकाधिकार रह पाता है। ऐसे क्षण जिस महाभाग के जीवन में आते हों, उसको भी शतशः नमस्कार !

३०

काव्य के दोष

अलङ्कार, गुण, रीति, ध्वनि आदि के सम्बन्ध में भारतीय समीक्षकों में चाहे कितना ही मतभेद रहा हो किन्तु काव्य में दोषों के निराकरण के संबन्ध में सभी एकमत रहे हैं। आचार्य दण्डी की दृष्टि में छोटा-सा दोष भी क्षम्य नहीं। जिस प्रकार कोढ़ का एक धब्बा भी शरीर के समस्त सौन्दर्य को विकृत कर देता है, उसी प्रकार एक भी काव्यदोष साहित्यिक सौन्दर्य को चौपट कर डालता है। काव्य प्रदीप की भूमिका में श्रीगोविन्द ने भी कहा है कि यदि काव्य में किसी भी प्रकार के दोष पाये जाते हों तो अलङ्कार आदि की उपस्थिति होते हुए भी आवश्यक साहित्यिक सौन्दर्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती, किन्तु इसके विरुद्ध काव्य में यदि अलङ्कारादि न भी हों तो भी दोषों के अभाव के कारण ही थोड़ा बहुत सौन्दर्य तो वहाँ अवश्य मिल जायगा। यही मत शब्दान्तर द्वारा अभिनव गुप्त ने भरत द्वारा वर्णित दोषों की व्याख्या करते हुए अभिनव भारती में प्रकट किया है। ‡ भामह ने तो कुकवित्व को साक्षात् मृत्यु † कहा है। इससे ज्ञात होता है कि इन समीक्षकों ने दोषों के अभाव को ही एक प्रकार से गुण माना है।

किन्तु यहाँ यह भी समझ लेना आवश्यक है कि दोषों से सर्वथा बचना कवि के लिए सम्भव नहीं होता और कभी-कभी एक साधारण-सा दोष-गुण समुदाय में निमज्जित भी हो जाता है। तो भी कवि को दोषों से बचने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए। लांजीनस ने भी काव्य दोषों को हेय कह कर कवियों को उनसे बचने की सलाह दी है। * किन्तु शास्त्रोक्त दोषों के निराकरण में ही कवि-कर्म की इतिश्री नहीं हो जाती। काव्य-समीक्षकों में ही दोषों के

---

‡ एतद्दोषविहीनं श्रुतिसुखं दीप्तरसं च यदि भवति तावता गुणान्तरैरलंकारैश्च हीनमपि काव्यं लक्षणयोगाव्यभिचारीत्युक्तम् (अभिनवभारती) ८३, K. M. Edition.

† कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः ॥ (भामह १-१२)

* Faults are not the less faults because they arise from the heedlessness of genius‧‧‧He (Longinus) warns us against bombast, puerillity or affectation, and the conceits of "frigidity" (Longinus as represented to us by R. A. Scott James in "The Making of Literature")

स्वरूप और संख्या के सम्बन्ध में बहुत मतभेद रहा है। फिर दोष भी हमेशा दोष नहीं रह जाते। औचित्य की अपेक्षा में ही गुण-दोष की विवेचना की जा सकती है। पुनरुक्ति साधारणतः दोष समझा जाता है किन्तु अनुकम्पादि विवक्षित होने पर यह दोष नहीं रह जाता। ❀

आचार्यों ने विभन्न प्रकार के दोष माने हैं जिनमें कुछ शब्दगत हैं और कुछ अर्थगत। शब्दगत दोषों में भी शब्द और वाक्य के पृथक्-पृथक् दोष माने गये हैं। शास्त्रीय विवेचन के विस्तार में न पड़कर यहाँ पर केवल उन्हीं दोषों का उल्लेख किया जायगा जिनसे हिन्दी के विद्यार्थी को प्रायः काम पड़ा करता है।

१—च्युतसंस्कृति—व्याकरण विरुद्ध प्रयोग इस दोष के अन्तर्गत माने गये हैं। कभी-कभी असावधानी के कारण या तुक मिलाने के लिए बड़े-बड़े कवि भी व्याकरण की अवहेलना कर जाते हैं, जैसे—

(क) 'पीछे मघवा मोहि शाप दई।'
(ग) 'अङ्गद रक्षा रघुपति कीन्हो' —केशव

यहाँ पर 'दई' के स्थान पर 'दयो' और 'कीन्हो' के स्थान पर 'कीन्ही' चाहिए।

(घ) सफल है, उन्हीं घनों का घोष।
नभ में आप विचरते हैं जो,
हरा धरा को करते हैं जो। (साकेत)

व्याकरण की दृष्टि से 'हरी' होना चाहिए। 'हरा करना' को एक संयुक्त क्रिया मानें तो यह प्रयोग ठीक कहा जा सकता है।

तुक या पिंगल सम्बंधी नियम-पालन को व्याकरण की अवहेलना का कारण नहीं बनाया जा सकता।

२—अक्रमत्व—जिस स्थान में जो शब्द रखा जाना चाहिए उसे उस स्थान में न रखने से यह दोष होता है।

सीता जू रघुनाथ को, अमल कमल की माल।
पहिराई जनु सबन की हृदयावलि भूपाल॥

वह माला ऐसी जान पड़ती है मानों सब राजाओं की हृदयावलि हो। यहाँ 'भूपाल' को 'सबन' के साथ रहना चाहिए था। पागल आदि के प्रलाप में क्रमहीन पदों का प्रयोग गुण हो जायगा।

---

† अनुकम्पाद्यतिशयो यदि कश्चिद्विवक्ष्यते।
न दोषः पुनरुक्तोऽपि प्रत्युतेयमलंक्रिया॥
(काव्यादर्श ४--१४)

३—दुष्क्रमत्व—अर्थात् जहाँ लोक या शास्त्र-विरुद्ध क्रम हो।

मारुतनन्दन मारुत को मन को।
खगराज को बेग लजायो।

यहाँ 'दुष्क्रमत्व' दोष है। मन का वेग जब कह चुके, तब खगराज का वेग उसके सामने कुछ नहीं है।

४—अप्रतीतत्व—शास्त्र विशेष में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का साधारण भाषा में प्रयोग दोष माना जाता है।

(क) साँचो सो लिखवार कहावै।
काया-ग्राम मसाहत करि कै, जमा बाँधि ठहरावै।
मन्मथ करै कैद अपनी में, जान जहतिया लावै॥

आचार्य शुक्ल के शब्दों में "काव्य में इस प्रकार की उक्तियाँ ठीक नहीं होतीं। आचार्यों ने 'अप्रतीतत्व' दोष के अन्तर्गत इस बात का संकेत किया है।" 'मसाहत' आदि शब्दों के प्रयोग के कारण यहाँ 'अप्रतीतत्व' दोष माना जा सकता है।

(ख) जग जीव जतीन की छूटी तटी।

'तटी' हठयोग का पारिभाषिक शब्द है (त्राटक मुद्रा के अर्थ में)। पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग काव्य की बोधगम्यता में बाधक होता है।

५—न्यूनपदत्व—जहाँ अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए जितने शब्दों की आवश्यकता हो उनसे यदि कम शब्दों का प्रयोग किया गया हो तो 'न्यूनपदत्व' दोष होता है। जैसे

पानी पावक पवन प्रभु,
ज्यों असाधु त्यों साधु।

यहाँ पर अर्थ तो यह है कि पानी, पावक, पवन और प्रभु—साधु और असाधु दोनों के प्रति एक ही सा व्यवहार करते हैं परन्तु वाक्य में पर्याप्त शब्दों की न्यूनता से ऐसा अर्थ सरलता से नहीं निकल पाता।

६—अधिकपदत्व—जहाँ पर आवश्यकता से अधिक शब्दों का प्रयोग हो वहाँ 'अधिक-पदत्व' दोष होता है—

सुनु मातु भयी यह बात अनैसी।
जु करी सुत भर्तृ-विनाशिनि जैसी॥

(रामचन्द्रिका)

यहाँ दूसरी पंक्ति में 'जैसी' का प्रयोग अनावश्यक होने से अधिक है। "लिपटी पुहुप-पराग-पट" यहाँ 'पुहुप' पद अधिक है; पराग पुहुप (पुष्प) का ही होता है।

७—अश्लीलत्व—व्रीड़ा-व्यञ्जक, घृणा-व्यञ्जक तथा अमङ्गल-व्यञ्जक पद जहाँ होते हैं वहाँ यह दोष माना जाता है। व्रीड़ा-व्यञ्जक को छोड़कर शेष दोनों के उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

घृणा-व्यञ्जक—

बिट कन घन घूरे भच्छि क्यों बाज जीवै ?

अमङ्गल-सूचक—

दुख देख्यो ज्यौं कालि त्यौं आजहु देखौ।

(रामचन्द्रिका)

कहना तो यह था 'जैसे आपने (भोजन के लिए) कल कष्ट किया था, वैसे ही आज भी कीजिए। किन्तु यहाँ 'दुख देख्यो' का प्रयोग अमंगल-सूचक हो गया है।

८—निहितार्थ—जहाँ किसी शब्द का अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग हो—

बिषमय यह गोदावरी, अमृतन को फल देति।
केसव जीवनहार को, दुख असेष हरि लेति॥

विष तथा जीवन शब्द का अर्थ पानी होता तो अवश्य है परन्तु वह अर्थ बहुत प्रसिद्ध नहीं है (विशेषकर विष का)। जहाँ किसी बात को छिपा कर ही कहना अभिप्रेत हो वहाँ यह दोष गुण हो जायगा।

९—संदिग्धत्व—जहाँ किसी वाक्य में सन्देह रह जावे। कवि के वांछित अर्थ का शीघ्र पता न लगे--

या गिरि पर सुग्रीव नृप, ता सँग मन्त्री चारि।
बानर लई छँड़ाय तिय, दीन्हों बालि निकारि॥

यहाँ पर ऐसा प्रतीत होता है कि किसी बन्दर ने स्त्री को छीन लिया तथा बेचारे बाली को निकाल दिया।

१०--क्लिष्टत्व—ऐसे शब्द का प्रयोग जिसका अर्थ कठिनता से खुले। उदाहरणार्थ सूर के कूट पद—

(क) वेद नखत ग्रह जोरि अरध करि,
सोई बनत अब खात। (सूर)

वेद = ४ + नखत = २७ + ग्रह = ९ = ४० × १/२ = २० बीस = बिस। गोपियाँ कहती हैं कि अब विष खाते ही बनता है।

(ख) मृगामित्र विलोकत चित्त जरे।

मृगांक तो चन्द्रमा होता है पर मृगामित्र क्लिष्ट है।

ग्राम्यत्व—ग्राम्य या प्रादेशिक शब्दों का (जैसे गोड़, पिछौरा आदि) प्रयोग। साहित्य की शिष्ट भाषा में साधारणतया अव्यवहृत या किसी स्थान-विशेष के शब्दों का प्रयोग दोष होता है, जैसे—

धनु है यह गौरमदाइन नाहीं।

इसका अर्थ इन्द्रधनुष आधे बुन्देलखण्ड में ही प्रचलित है।

श्रुतिकटुत्व—शृंगार, करुण आदि कोमल रसों में कानों को अप्रिय लगने वाले कर्कश शब्दों का प्रयोग। जैसे—

'चक्कि चक्कि पिय सामुहे लक्खि-लक्खि यह रूप।'

'प्रिया अलक चक्षुश्रवा डसै पात ही दृष्टि।'

चक्षुश्रवा, साँप को कहते हैं, उसके कान नहीं होते। वह बिना कान ही सुनता है। यहाँ कठोर वर्ण आये हैं।

वेदने, तू भी भली बनी।
ठण्डी होगी देह न मेरी, रहे दृगम्बु-सनी।
आ अभाव की एक आत्मजे, और अदृष्टि-जनी।
तेरी ही छाती है सचमुच उपमोचितस्तनी!

(साकेत—नवम सर्ग)

'उपमोचितस्तनी' जैसे—प्रयोग प्रस्तुत विषय को देखते हुए खटकते हैं। वीर रस में ऐसे शब्दों का प्रयोग गुण माना जाता है।

११—समाप्तपुनरात्त—वाक्य की समाप्ति में जहाँ पहले के छूटे हुए विशेषणादि रख दिये जायँ—

(क) यह बात सुनी नृपनाथ जबै।
शर से लगे आखर चित्त सबै॥

'शर से लगे आखर चित्त' यहाँ पर वाक्य समाप्त हो जाता है किन्तु वाक्य समाप्त होने पर 'सबै' विशेषण लाया गया है।

(ख) ब्रह्मादि देव जब विनय कीन्ह।
तट छीर-सिन्धु के परम दीन॥

'तट छीर-सिन्धु के' यहाँ वाक्य समाप्त होने पर भी 'परम दीन' द्वारा वाक्य फिर उठाया गया है।

१२—पुनरुक्ति—

जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना।
जहाँ कुमति तहँ विपति निदाना॥

दूसरी पंक्ति का अर्थ पहली से ही निकल आता है।

१३—कालदोष—जिसे अंग्रेजी में Anachronism कहा जाता है—

पांडव की प्रतिमा सम लेखौ।
अर्जुन भीम महामति देखौ॥

(रामचन्द्रिका)

राम के मुख से पांडवों का उल्लेख करवाना काल विरुद्ध है।

१४—इसी प्रकार देश विरुद्ध दूषण भी होता है। जो चीज जिस देश में न होती हो वहाँ उसका वर्णन करना देश विरुद्ध दूषण कहलाता है। केशव ने विश्वामित्र के तपोवन में इलाइची, लौंग और पुङ्गीफल (सुपारी) का वर्णन किया है। ये फल वहाँ नहीं होते, देखिए:—

'एला ललित लवंग संग पुङ्गीफल' ऐसे ही वे दण्डकारण्य में केशर की क्यारी ले आये हैं:—

केसरी को देख बन-करी ज्यों कँपत है।

ऊपर बहुत प्रसिद्ध दोषों के ही उदाहरण दिये गये हैं। स्थानाभाव से अन्य दोषों को छोड़ दिया गया है। शारीरिक अङ्गों में दोष होने से शरीर विकृत हो जाता है। काने, खोड़े, कूबड़े को कुचाली ही नहीं कहा गया है, लोक-व्यवहार में ये अपशकुन अथवा अमङ्गल सूचक भी मान लिये गये हैं। काव्यांग भी विकृत न होने पावे इसका ध्यान कवि को रखना ही होगा। भला विकलांग होने पर कविता-कामिनी किसे आकर्षित कर सकेगी?